समाज का बोध

कक्षा 11 के लिए पाठ्यपुस्तक

© NCERT not to be republished

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्
NATIONAL COUNCIL OF EDUCATIONAL RESEARCH AND TRAINING

11107 – समाज का बोध
कक्षा 11 के लिए पाठ्यपुस्तक

ISBN 81-7450-614-4

प्रथम संस्करण
सितंबर 2006 आश्विन 1928

पुनर्मुद्रण
जनवरी 2007, नवंबर 2007, दिसंबर 2008, जनवरी 2010, नवंबर 2010, जनवरी 2011, अप्रैल 2013, अक्तूबर 2014, फ़रवरी 2015, दिसंबर 2015, दिसंबर 2016, दिसंबर 2017, जनवरी 2019, अक्तूबर 2019, मार्च 2021, दिसंबर 2021

संशोधित संस्करण
मार्च 2023, चैत्र 1944

पुनर्मुद्रण
मार्च 2024 चैत्र 1946

PD 5T SU

© राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् 2006, 2023

₹ 75.00

एन.सी.ई.आर.टी. वाटरमार्क 80 जी.एस.एम. पेपर पर मुद्रित।

प्रकाशन प्रभाग में सचिव, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, श्री अरविंद मार्ग, नयी दिल्ली 110 016 द्वारा प्रकाशित तथा देवटैक पब्लिशर्स एवं प्रिंटर्स प्रा. लि., 14/3 बोलटान कम्पाउंड, मथुरा रोड, फ़रीदाबाद – 121 003 (हरियाणा) द्वारा मुद्रित।

सर्वाधिकार सुरक्षित

- प्रकाशक की पूर्व अनुमति के बिना इस प्रकाशन के किसी भाग को छापना तथा इलैक्ट्रॉनिकी, मशीनी, फोटोप्रतिलिपि, रिकॉर्डिंग अथवा किसी अन्य विधि से पुन: प्रयोग पद्धति द्वारा उसका संग्रहण अथवा प्रसारण वर्जित है।
- इस पुस्तक की बिक्री इस शर्त के साथ की गई है कि प्रकाशक की पूर्व अनुमति के बिना यह पुस्तक अपने मूल आवरण अथवा जिल्द के अलावा किसी अन्य प्रकार से व्यापार द्वारा उधारी पर, पुनर्विक्रय या किराए पर न दी जाएगी, न बेची जाएगी।
- इस प्रकाशन का सही मूल्य इस पृष्ठ पर मुद्रित है। रबड़ की मुहर अथवा चिपकाई गई पर्ची (स्टिकर) या किसी अन्य विधि द्वारा अंकित कोई भी संशोधित मूल्य गलत है तथा मान्य नहीं होगा।

एन.सी.ई.आर.टी. के प्रकाशन प्रभाग के कार्यालय

एन.सी.ई.आर.टी. कैंपस
श्री अरविंद मार्ग
नयी दिल्ली 110 016 फोन : 011-26562708

108, 100 फीट रोड
हेली एक्सटेंशन, होस्डेकेरे
बनाशंकरी III स्टेज
बेंगलुरु 560 085 फोन : 080-26725740

नवजीवन ट्रस्ट भवन
डाकघर नवजीवन
अहमदाबाद 380 014 फोन : 079-27541446

सी.डब्ल्यू.सी. कैंपस
निकट: धनकल बस स्टॉप पनिहटी
कोलकाता 700 114 फोन : 033-25530454

सी.डब्ल्यू.सी. कॉम्प्लैक्स
मालीगांव
गुवाहाटी 781021 फोन : 0361-2674869

प्रकाशन सहयोग

अध्यक्ष, प्रकाशन प्रभाग	: *अनूप कुमार राजपूत*
मुख्य संपादक	: *श्वेता उप्पल*
मुख्य उत्पादन अधिकारी	: *अरुण चितकारा*
मुख्य व्यापार प्रबंधक (प्रभारी)	: *अमिताभ कुमार*
संपादक	: *नरेश यादव*
सहायक उत्पादन अधिकारी	: *ओम प्रकाश*

आवरण
अमित श्रीवास्तव

© NCERT not to be republished

आमुख

राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा (2005) सुझाती है कि बच्चों के स्कूली जीवन को बाहर के जीवन से जोड़ा जाना चाहिए। यह सिद्धांत किताबी ज्ञान की उस विरासत के विपरीत है जिसके प्रभाववश हमारी व्यवस्था आज तक स्कूल और घर के बीच अंतराल बनाए हुए है। नयी राष्ट्रीय पाठ्यचर्या पर आधारित पाठ्यक्रम और पाठ्यपुस्तकें इस बुनियादी विचार पर अमल करने का प्रयास हैं। इस प्रयास में हर विषय को एक मज़बूत दीवार से घेर देने और जानकारी को रटा देने की प्रवृत्ति का विरोध शामिल है। आशा है कि ये कदम हमें राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1986) में वर्णित बाल-केंद्रित व्यवस्था की दिशा में काफ़ी दूर तक ले जाएँगे।

इस प्रयत्न की सफलता अब इस बात पर निर्भर है कि स्कूलों के प्राचार्य और अध्यापक बच्चों को कल्पनाशील गतिविधियों और सवालों की मदद से सीखने और सीखने के दौरान अपने अनुभवों पर विचार करने का कितना अवसर देते हैं। हमें यह मानना होगा कि यदि जगह, समय और आज़ादी दी जाए तो बच्चे बड़ों द्वारा सौंपी गई सूचना-सामग्री से जुड़कर और जूझकर नए ज्ञान का सृजन करते हैं। शिक्षा के विविध साधनों एवं स्रोतों की अनदेखी किए जाने का प्रमुख कारण पाठ्यपुस्तक को परीक्षा का एकमात्र आधार बनाने की प्रवृत्ति है। सर्जना और पहल को विकसित करने के लिए ज़रूरी है कि हम बच्चों को सीखने की प्रक्रिया में पूरा भागीदार मानें और बनाएँ, उन्हें ज्ञान की निर्धारित खुराक का ग्राहक मानना छोड़ दें।

ये उद्देश्य स्कूल की दैनिक ज़िंदगी और कार्यशैली में काफ़ी फेरबदल की माँग करते हैं। दैनिक समय-सारणी में लचीलापन उतना ही ज़रूरी है जितना कि वार्षिक कैलेंडर के अमल में चुस्ती, जिससे शिक्षण के लिए नियत दिनों की संख्या हकीकत बन सके। शिक्षण और मूल्यांकन की विधियाँ भी इस बात को तय करेंगी कि यह पाठ्यपुस्तक स्कूल में बच्चों के जीवन को मानसिक दबाव तथा बोरियत की जगह खुशी का अनुभव बनाने में कितनी प्रभावी सिद्ध होती हैं। बोझ की समस्या से निपटने के लिए पाठ्यक्रम निर्माताओं ने विभिन्न चरणों में ज्ञान का पुनर्निर्धारण करते समय बच्चों के मनोविज्ञान एवं

अध्यापन के लिए उपलब्ध समय का ध्यान रखने की पहले से अधिक सचेत कोशिश की है। इस कोशिश को और गहराने के यत्न में यह पाठ्यपुस्तक सोच–विचार और विस्मय, छोटे समूहों में बातचीत एवं बहस और हाथ से की जाने वाली गतिविधियों को प्राथमिकता देती है।

एन.सी.ई.आर.टी. इस पुस्तक की रचना के लिए बनाई गई पाठ्यपुस्तक निर्माण समिति के परिश्रम के लिए कृतज्ञता व्यक्त करती है। परिषद् सामाजिक विज्ञान पाठ्यपुस्तक सलाहकार समूह के अध्यक्ष प्रोफ़ेसर हरि वासुदेवन और समाजशास्त्र पाठ्यपुस्तक समिति के मुख्य सलाहकार प्रोफ़ेसर योगेंद्र सिंह की विशेष आभारी है। इस पाठ्यपुस्तक के विकास में कई शिक्षकों ने योगदान दिया, इस योगदान को संभव बनाने के लिए हम उनके प्राचार्यों के आभारी हैं। हम उन सभी संस्थाओं और संगठनों के प्रति कृतज्ञ हैं जिन्होंने अपने संसाधनों, सामग्री तथा सहयोगियों की मदद लेने में हमें उदारतापूर्वक सहयोग दिया। हम माध्यमिक एवं उच्च शिक्षा विभाग, मानव संसाधन विकास मंत्रालय द्वारा प्रोफ़ेसर मृणाल मीरी एवं प्रोफ़ेसर जी.पी. देशपांडे की अध्यक्षता में गठित निगरानी समिति (मॉनीटरिंग कमेटी) के सदस्यों को अपना मूल्यवान समय और सहयोग देने के लिए धन्यवाद देते हैं। व्यवस्थागत सुधारों और अपने प्रकाशनों में निरंतर निखार लाने के प्रति समर्पित एन.सी.ई.आर.टी. टिप्पणियों व सुझावों का स्वागत करेगी, जिनसे भावी संशोधनों में मदद ली जा सके।

निदेशक
राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान
और प्रशिक्षण परिषद्

नयी दिल्ली
20 दिसंबर 2005

© NCERT not to be republished

पाठ्यपुस्तकों में पाठ्य सामग्री का पुनर्संयोजन

कोविड-19 महामारी को देखते हुए, विद्यार्थियों के ऊपर से पाठ्य सामग्री का बोझ कम करना अनिवार्य है। *राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 2020* में भी विद्यार्थियों के लिए पाठ्य सामग्री का बोझ कम करने और रचनात्मक नज़रिए से अनुभवात्मक अधिगम के अवसर प्रदान करने पर ज़ोर दिया गया है। इस पृष्ठभूमि में, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् ने सभी कक्षाओं में पाठ्यपुस्तकों को पुनर्संयोजित करने की शुरुआत की है। इस प्रक्रिया में रा.शै.अ.प्र.प. द्वारा पहले से ही विकसित कक्षावार सीखने के प्रतिफलों को ध्यान में रखा गया है।

पाठ्य सामग्रियों के पुनर्संयोजन में निम्नलिखित बिंदुओं को ध्यान में रखा गया है --

- एक ही कक्षा में अलग-अलग विषयों के अंतर्गत समान पाठ्य सामग्री का होना;
- एक कक्षा के किसी विषय में उससे निचली कक्षा या ऊपर की कक्षा में समान पाठ्य सामग्री का होना;
- कठिनाई स्तर;
- विद्यार्थियों के लिए सहज रूप से सुलभ पाठ्य सामग्री का होना, जिसे शिक्षकों के अधिक हस्तक्षेप के बिना, वे खुद से या सहपाठियों के साथ पारस्परिक रूप से सीख सकते हों;
- वर्तमान संदर्भ में अप्रासंगिक सामग्री का होना।

वर्तमान संस्करण, ऊपर दिए गए परिवर्तनों को शामिल करते हुए तैयार किया गया पुनर्संयोजित संस्करण है।

© NCERT not to be republished

© NCERT
not to be republished

शिक्षकों एवं विद्यार्थियों के लिए दो शब्द

हमारी प्रारंभिक पाठ्यपुस्तक में हमारा उद्देश्य विद्यार्थियों को समाजशास्त्र का परिचय कराना था। अतः हमने समाज के उद्भव एवं विषय के मुख्य सरोकारों के अध्ययन के लिए इसके उपकरणों एवं पद्धतियों के बारे में चर्चा की। समाज को समझने के अपने प्रयास के तहत समाजशास्त्र का एक मुख्य सरोकार व्यक्ति और समाज के बीच के संबंध को समझना था। व्यक्ति समाज में कोई कार्य करने के लिए किस सीमा तक स्वतंत्र है और किस सीमा तक बाध्य?

इस पुस्तक में हम सामाजिक संरचना, सामाजिक स्तरीकरण एवं सामाजिक प्रक्रियाओं की अवधारणाओं को जानकर इस संबंध को बेहतर तरीके से समझने का प्रयास करेंगे। हम यह समझने का प्रयास करेंगे कि व्यक्ति समूहों की सामाजिक संरचना में कहाँ स्थान पाते हैं और वे किस तरह कार्य करते और सामाजिक प्रक्रियाओं को प्रारंभ करते हैं। वे किस प्रकार सहयोग, प्रतियोगिता और संघर्ष करते हैं? वे भिन्न प्रकार के समाज में सहयोग, प्रतियोगिता और संघर्ष को भिन्न प्रकार से क्यों करते हैं? समाजशास्त्र के मूल प्रश्नों के उपागम को आगे बढ़ाते हुए पहली पाठ्यपुस्तक में हमने इन प्रक्रियाओं को उनके स्वाभाविक और अपरिवर्तनीय रूप में नहीं देखा पर उन्हें सामाजिक रूप में बनते हुए देखा। हम प्रकृतिवादियों की इस व्याख्या को स्वीकार नहीं करते कि मानव स्वभाव से ही प्रतियोगी और संघर्ष प्रवृत्ति का होता है।

सामाजिक संरचना और सामाजिक प्रक्रियाओं की अवधारणा इस तथ्य की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करती है कि समाज व्यवस्था और परिवर्तन दोनों से ही संचालित होता है। कुछ चीज़ें सदा समान रहती हैं। ग्रामीण एवं नगरीय समाजों में पाए जाने वाली व्यवस्था और परिवर्तन हमें निरंतरता और परिवर्तन को ठीक से समझने में सहायता देते हैं।

आगे हम समाज और पर्यावरण के मध्य इन आधारभूत संबंधों को देखेंगे और समकालीन विकासों को देखते हुए पर्यावरण की समाजशास्त्रीय समझ को आरेखित करेंगे।

प्रथम पाठ्यपुस्तक में हमने समाजशास्त्र के उद्भव और इसके द्वारा आधुनिकता को समझने के लिए किए जा रहे प्रयास को जाना। प्रस्तुत पाठ्यपुस्तक में हम कतिपय मुख्य अवधारणाओं का परिचय देंगे, जिन्हें पाश्चात्य एवं भारतीय विचारकों ने आधुनिक समाजों की संरचना एवं प्रकार्यों को समझने के लिए विकसित किया है।

हमारा विचार यहाँ उनके सर्वांगीण विचारों को बताने का नहीं है, वैसे भी उसे हमारे समय और स्थान की सीमा में रख पाना संभव नहीं है। यहाँ हमारा केंद्रबिंदु उनके विचारों एवं कार्यों के कुछ पक्षों को बताना ही है। हम आशा करते हैं कि इससे हम इन विचारकों के कार्यों के महत्त्व से आपको परिचित करा पाएँगे। उदाहरण के लिए हम कार्ल मार्क्स द्वारा दिए गए वर्ग संघर्ष के सिद्धांत को जानेंगे। एमिल दुर्खाइम के श्रम विभाजन के विचारों को और मैक्स वेबर के नौकरशाही के विचारों को जानेंगे। इसी तरह हम भारतीय विचारक जी.एस. घूर्ये के प्रजाति एवं जाति संबंधी विचारों को, डी.पी. मुखर्जी के परंपरा और परिवर्तन के विचारों को और ए.आर. देसाई के राज्य संबंधी विचारों को और एम.एन. श्रीनिवास के ग्रामीण भारत संबंधी विचारों से परिचित होंगे।

समाजशास्त्र की प्रश्नात्मक प्रवृत्ति को ध्यान में रखते हुए, यह पाठ्यपुस्तक भी पिछली पाठ्यपुस्तक की तरह पाठकों की लगातार सोचने, प्रतिबिंबित करने तथा समाज में और एक व्यक्ति के रूप में हमारे साथ क्या हो रहा है, से हमें संबद्ध करती है। इस पाठ्यपुस्तक में दिए गए क्रियाकलाप पाठ्यपुस्तक का एक आंतरिक हिस्सा है। पाठ्यसामग्री तथा क्रियाकलाप एक एकीकृत समग्र बनाते हैं। एक के बगैर दूसरा कार्य नहीं कर सकता। समाज के बारे में बनी बनाई जानकारी देने के बजाय यहाँ समाज को समझने में मदद करना ही इसका उद्देश्य है। तिथियाँ जो विचारकों के जीवन तथा कार्यों को दर्शाती हैं, उन्हें केवल विचारकों के ऐतिहासिक संदर्भों के एक वृहद बोध को दर्शाने के लिए शामिल की गई हैं। पाठ्यपुस्तक क्रियात्मक होने का प्रयास करती है तथा साथ ही विभिन्न क्रियाकलापों से परिचित कराती है, जिससे कि छात्रों को समाज को एक जीवन की तरह समझने में मदद मिल सके। यद्यपि, सर्वाधिक रोमांचक तथा नवप्रवर्तनीय हिस्सा कक्षा में शिक्षकों तथा विद्यार्थियों के साथ ही संभव होता है। वे संभवत: और अधिक उदाहरण तथा क्रियाकलापों को जोड़ने में सक्षम होंगे। यहाँ यह विचार भी अंत:क्रियात्मक वाद-विवाद की शुरुआत करना है। यह केवल एक शुरुआत है। इसके साथ ही और बहुत सारी सीखने की प्रक्रियाएँ कक्षा में होंगी। विद्यार्थी एवं शिक्षक संभवत: और बेहतर तरीकों से क्रियाकलापों एवं उदाहरणों के बारे में सोच सकते हैं तथा पाठ्यपुस्तक को और बेहतर बनाने के बारे में सुझाव दे सकते हैं।

प्रो. मैत्रेयी चौधरी
प्रो. मंजु भट्ट

पाठ्यपुस्तक निर्माण समिति

अध्यक्ष, सामाजिक विज्ञान पाठ्यपुस्तक सलाहकार समिति

हरि वासुदेवन, *प्रोफ़ेसर,* इतिहास विभाग, कलकत्ता, विश्वविद्यालय, कोलकाता।

मुख्य सलाहकार

योगेंद्र सिंह, *प्रोफ़ेसर* (एमरिटस), सेंटर फॉर द सोशल सिस्टम, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली।

सदस्य

अंजन घोष, *फैलो,* सेंटर फॉर स्टडीज़ इन सोशल साइंसेज़, कोलकाता।

अमिता बाविस्कर, *प्रोफ़ेसर,* इंस्टीट्यूट ऑफ़ इकॉनोमिक ग्रोथ, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

आभा अवस्थी, *प्रोफ़ेसर* (सेवानिवृत्त), समाजशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

जितेंद्र प्रसाद, *प्रोफ़ेसर* (सेवानिवृत्त), समाजशास्त्र विभाग, महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय, रोहतक।

डी.के. शर्मा, *प्रोफ़ेसर* (सेवानिवृत्त), सामाजिक विज्ञान शिक्षा विभाग, रा.शै.अ.प्र.प., नयी दिल्ली।

दिशा नवानी, *प्रवक्ता*, समाजशास्त्र विभाग, गार्गी महाविद्यालय, नयी दिल्ली।

बलाका डे, *कार्यक्रम सहायक*, यूनाइटेड नेशंस, डेवेलपमेंट प्रोग्राम, नयी दिल्ली।

मधु नागला, *प्रोफ़ेसर,* समाजशास्त्र विभाग, महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय, रोहतक।

मधु शरन, *प्रोजेक्ट निर्देशक*, हेन्ड–इन–हैन्ड, चेन्नई।

मैत्रेयी चौधरी, *प्रोफ़ेसर,* सेंटर फॉर द स्टडीज़ ऑफ सोशल सिस्टम, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली।

राजीव गुप्ता, *प्रोफ़ेसर* (सेवानिवृत्त), समाजशास्त्र विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर।

विश्वरक्षा, *एसोसिएट प्रोफ़ेसर,* समाजशास्त्र विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू।

सारिका चन्द्रवंशी साजू, *असिस्टेन्ट प्रोफ़ेसर,* आर. आई. ई., भोपाल, रा.शै.अ.प्र.प., नयी दिल्ली।

सतीश देशपांडे, *प्रोफ़ेसर,* समाजशास्त्र विभाग, दिल्ली स्कूल ऑफ़ इकोनोमिक्स, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

हिंदी अनुवाद

कंचन वर्मा, *पी.जी.टी.,* जी.डी. गोयनका विद्यालय, नयी दिल्ली।

सदस्य समन्वयक

मंजु भट्ट, *प्रोफ़ेसर* एवं *अध्यक्ष* सामाजिक विज्ञान शिक्षा विभाग, रा.शै.अ.प्र.प., नयी दिल्ली।

© NCERT not to be republished

आभार

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् इस पाठ्यपुस्तक के निर्माण में सहयोग देने हेतु करुणा चानना, *प्रोफ़ेसर* (अवकाश प्राप्त), ज़ाकिर हुसैन सेंटर फॉर एजुकेशनल स्टडीज़, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली; अरविंद चौहान, *प्रोफ़ेसर,* समाजशास्त्र विभाग, बरकतुल्लाह विश्वविद्यालय, भोपाल; देबल सिंह राय, *प्रोफ़ेसर,* समाजशास्त्र विभाग, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली; राजेश मिश्रा, *प्रोफ़ेसर,* समाजशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ; एस.एम. पटनायक, *प्रवाचक,* मानवविज्ञान विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली; सुदर्शन गुप्ता, *प्रिंसिपल,* राजकीय उच्च माध्यमिक विद्यालय, पलोरा, जम्मू; मनदीप चौधरी, *पी.जी.टी.* (सेवानिवृत्त) (समाजशास्त्र), गुरु हरकिशन पब्लिक स्कूल, नयी दिल्ली; सीमा बनर्जी, *पी.जी.टी.* (समाजशास्त्र), लक्ष्मन पब्लिक स्कूल, नयी दिल्ली; रीता खन्ना, *पी.जी.टी.* (समाजशास्त्र), दिल्ली पब्लिक स्कूल, नयी दिल्ली; सुधा कालरा, *पी.जी.टी.* (सेवानिवृत्त) (समाजशास्त्र), राजकीय उच्च माध्यमिक कन्या विद्यालय, लक्ष्मीनगर, दिल्ली; ए. आमिर अंसारी, *पी.जी.टी.* (समाजशास्त्र), स्वतंत्र भारत मिल उच्च माध्यमिक विद्यालय, नयी दिल्ली एवं कंचन वर्मा, *पी.जी.टी.* (हिंदी), जी.डी. गोयनका विद्यालय, नयी दिल्ली का आभार व्यक्त करती है। उपर्युक्त में से कुछ सदस्यों ने पुस्तक के पुनरावलोकन में भी अपना सहयोग दिया हम उनके भी आभारी हैं।

परिषद् सविता सिन्हा, *प्रोफ़ेसर* एवं *अध्यक्ष* (सेवानिवृत्त), सामाजिक विज्ञान शिक्षा विभाग का भी उनके सहयोग के लिए आभार व्यक्त करती है।

परिषद् सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, नयी दिल्ली; वी. सुरेश, *पी.जी.टी.* (जूलोजी), श्रीविद्या मैट्रिकुलेशन हायर सेकंडरी स्कूल, उतंगरी, तमिलनाडु; एल. चक्रवर्ती, *छायाचित्रकार,* उतंगरी, तमिलनाडु का उनके चित्रों को इस पाठ्यपुस्तक में प्रयोग करने के लिए उनका आभार व्यक्त करती है। इस पाठ्यपुस्तक में दिए गए चित्रों में से कुछ चित्र हमें आर.सी. दास, *छायाचित्रकार,* सी.आई.ई.टी., एन.सी.ई.आर.टी., नयी दिल्ली द्वारा प्राप्त हुए इसके लिए परिषद् उनकी आभारी है। कुछ चित्र हमने विभिन्न पत्रिकाओं से प्राप्त किए, वे हैं–बिज़निस वर्ल्ड,

© NCERT not to be republished

बिज़निस टुडे और बिज़निस एंड इकोनोमी, इसके लिए परिषद् कापीराइट धारकों तथा प्रकाशकों के प्रति अपना आभार एवं धन्यवाद व्यक्त करती है।

परिषद्, इस पुस्तक के पुनर्संयोजन के लिए पाठ्यक्रमों, पाठ्यपुस्तकों एवं विषय सामग्री के विश्लेषण हेतु दिए गए महत्वपूर्ण सहयोग के लिए मंजू भट्ट, *प्रोफ़ेसर* (सेवानिवृत्त), एन.सी.ई.आर.टी.; अचला प्रितम टंडन, *एसोसिएट प्रोफ़ेसर*, समाजशास्त्र, हिंदू कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय; सीमा बेनर्जी, *पी.जी.टी.* समाजशास्त्र, लक्ष्मण पब्लिक स्कूल, हौज़ खास एन्कलेव, नयी दिल्ली; आभा सेठ, *पी.जी.टी.* (सेवानिवृत्त), समाजशास्त्र, नयी दिल्ली के प्रति आभार व्यक्त करती है।

इस पुस्तक के चरणबद्ध विकास के लिए परिषद् *डी.टी.पी. ऑपरेटर* गिरीश गोयल एवं अनिल शर्मा; *कॉपी एडीटर* सुप्रिया गुप्ता एवं यतेन्द्र कुमार यादव तथा *प्रूफ रीडर* अनिल शर्मा की आभारी है। परिषद् *कंप्यूटर स्टेशन प्रभारी* दिनेश कुमार के प्रति भी आभार व्यक्त करती है। हम प्रकाशन विभाग, एन.सी.ई.आर.टी. का भी उनके सहयोग के लिए आभार व्यक्त करते हैं।

प्रो. मैत्रेयी चौधरी
प्रो. मंजु भट्ट

© NCERT not to be republished

विषय-सूची

आमुख *iii*

पाठ्यपुस्तकों में पाठ्य सामग्री का पुनर्संयोजन *v*

शिक्षकों एवं विद्यार्थियों के लिए दो शब्द *vii*

1. समाज में सामाजिक संरचना, स्तरीकरण और सामाजिक प्रक्रियाएँ 1
2. ग्रामीण तथा नगरीय समाज में सामाजिक परिवर्तन तथा सामाजिक व्यवस्था 22
3. पर्यावरण और समाज 51
4. पाश्चात्य समाजशास्त्री–एक परिचय 68
5. भारतीय समाजशास्त्री 87

© NCERT not to be republished

भारत का संविधान

उद्देशिका

हम, भारत के लोग, भारत को एक [1][**संपूर्ण प्रभुत्व-संपन्न समाजवादी पंथनिरपेक्ष लोकतंत्रात्मक गणराज्य**] बनाने के लिए, तथा उसके समस्त नागरिकों को :

सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक **न्याय,**

विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म

और उपासना की **स्वतंत्रता,**

प्रतिष्ठा और अवसर की **समता**

प्राप्त कराने के लिए,

तथा उन **सब में**

व्यक्ति की गरिमा और [2][**राष्ट्र की एकता और अखंडता**] सुनिश्चित करने वाली **बंधुता**

बढ़ाने के लिए

दृढ़संकल्प होकर **अपनी इस संविधान सभा में** आज तारीख 26 नवंबर, 1949 ई. को **एतद्‌द्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।**

---

1. संविधान (बयालीसवां संशोधन) अधिनियम, 1976 की धारा 2 द्वारा (3.1.1977 से) ''प्रभुत्व-संपन्न लोकतंत्रात्मक गणराज्य'' के स्थान पर प्रतिस्थापित।
2. संविधान (बयालीसवां संशोधन) अधिनियम, 1976 की धारा 2 द्वारा (3.1.1977 से) ''राष्ट्र की एकता'' के स्थान पर प्रतिस्थापित।

© NCERT not to be republished

अध्याय 1

समाज में सामाजिक संरचना, स्तरीकरण और सामाजिक प्रक्रियाएँ

परिचय

आपको याद होगा कि आपकी प्रारंभिक समाजशास्त्र की पुस्तक *समाजशास्त्र परिचय,* कक्षा XI की शुरुआत निजी समस्याओं तथा सामाजिक मुद्दों के आपसी संबंधों पर परिचर्चा से हुई थी। हमने यह भी देखा कि किस प्रकार व्यक्ति विभिन्न सामूहिकताओं से जुड़ा होता है जैसे—समूह, वर्ग, लिंग, जाति तथा जनजाति। वास्तव में आप में से प्रत्येक किसी एक समूह से ही नहीं बल्कि कई समूहों से जुड़े होते हैं। उदाहरणत: आप अपने दोस्तों, अपने परिवार और नातेदारी, वर्ग तथा लिंग, अपने देश तथा प्रदेश के सदस्य हैं। अत: प्रत्येक व्यक्ति का सामाजिक संरचना तथा स्तरीकरण में एक विशेष स्थान होता है (*समाजशास्त्र परिचय* पृष्ठ 28–35 देखिए)।

इसका यह अर्थ भी निकलता है कि प्रत्येक व्यक्ति के पास सामाजिक संसाधनों को प्राप्त करने के विभिन्न तरीके हैं। उदाहरण के लिए एक विद्यार्थी किस विद्यालय में पढ़ने जाए यह उसके सामाजिक स्तर पर निर्भर करता है। ठीक इसी प्रकार वह किस प्रकार के वस्त्र पहनती/पहनता है; किस प्रकार का भोजन करती/करता है; अपने खाली समय में वह क्या करती/करता है; किस तरह की स्वास्थ्य सुविधाएँ उसे प्राप्त हैं; अर्थात सामान्य तौर पर उसकी संपूर्ण जीवनशैली। जैसेकि सामाजिक संरचना के संदर्भ में सामाजिक स्तरीकरण, व्यक्ति को कार्य करने हेतु बाध्य करता है।

समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य का एक मुख्य उद्देश्य व्यक्ति तथा समाज के द्वंद्वात्मक संबंधों को समझना है। आपको सी.राइट मिल की समाजशास्त्रीय कल्पना की व्याख्या याद होगी जहाँ उन्होंने व्यक्ति के जीवनवृत्त तथा समाज के इतिहास के आपसी संबंधों को स्पष्ट किया है। इस पाठ में, समाज और व्यक्ति के द्वंद्वात्मक संबंध को समझने के लिए यह आवश्यक है कि तीन मुख्य संकल्पनाओं (अवधारणाओं) यथा सामाजिक संरचना, सामाजिक स्तरीकरण तथा सामाजिक प्रक्रियाओं पर चर्चा की जाए। अगले कुछ अध्यायों में हम यह जानेंगे कि नगरीय तथा ग्रामीण समाज की सामाजिक संरचना किस प्रकार भिन्न है, और पर्यावरण तथा समाज

© NCERT not to be republished

के बीच व्यापक संबंधों का रूप क्या है? आखिरी के दो अध्यायों में हम पाश्चात्य सामाजिक विचारकों तथा भारतीय सामाजशास्त्रियों तथा उनके विचारों को समझेंगे जो हमें आगे सामाजिक संरचना, सामाजिक स्तरीकरण तथा सामाजिक प्रक्रियाओं को समझने में मदद करेंगे।

मुख्य प्रश्न जिस पर इस पाठ में विचार किया जाना है कि किस हद तक व्यक्ति सामाजिक संरचना से बाध्य होता है और किस हद तक वह सामाजिक संरचना के अंतर्गत स्वतंत्र होता है? समाज में व्यक्ति की स्थिति अथवा सामाजिक स्तरीकरण की व्यवस्था में उसका स्थान, उसकी व्यक्तिगत रुचियों को किस सीमा तक निर्धारित करती है। क्या सामाजिक संरचना तथा सामाजिक स्तरीकरण व्यक्ति की कार्यप्रणाली को प्रभावित करते हैं? किस प्रकार से व्यक्ति एक दूसरे से सहयोग, प्रतियोगिता तथा संघर्ष करते हैं तथा उसे वे क्या रूप देते हैं?

इस अध्याय में हम संक्षेप में 'सामाजिक संरचना' तथा 'सामाजिक स्तरीकरण' पर चर्चा करेंगे। आपने सामाजिक स्तरीकरण पर विस्तारपूर्वक चर्चा पिछली पुस्तक (समाजशास्त्र परिचय) के अध्याय 2 में की है। अब हम आगे बढ़ते हुए तीन मुख्य सामाजिक प्रक्रियाओं यथा सहयोग, प्रतियोगिता तथा संघर्ष पर चर्चा करेंगे। इनमें से प्रत्येक प्रक्रिया को समझने के लिए हम यह समझने तथा देखने की कोशिश करेंगे कि सामाजिक संरचना तथा सामाजिक स्तरीकरण किस प्रकार सामाजिक प्रक्रियाओं पर अपना प्रभाव छोड़ते हैं। दूसरे शब्दों में, किस प्रकार व्यक्तियों के मध्य तथा समूहों के मध्य सहयोग, प्रतियोगिता तथा संघर्ष होते हैं। यह सब कुछ सामाजिक संरचना तथा स्तरीकरण व्यवस्था में व्यक्तियों एवं समूह की स्थिति पर निर्भर करता है।

सामाजिक संरचना तथा सामाजिक स्तरीकरण

'सामाजिक संरचना' शब्द इस तथ्य को दर्शाता है कि समाज संरचनात्मक है अर्थात अपने विशिष्ट रूप में वह क्रमवार तथा नियमित है। जिस सामाजिक वातावरण में हम रहते हैं वह मात्र कुछ क्रियाओं एवं प्रघटनाओं का अनियमित मिश्रण नहीं है। लोगों का आचरण किस प्रकार का होता है तथा एक-दूसरे के प्रति उनके संबंध किस प्रकार के होते हैं—इसमें एक प्रकार की अंतर्निहित नियमितता अथवा प्रतिमान (पैटर्न) होता है। सामाजिक संरचना की संकल्पना इन्हीं नियमितताओं को इंगित करती है। एक बिंदु तक, समाज की संरचनात्मक विशेषताओं को एक इमारत की संरचनात्मक विशेषताओं के समकक्ष रखकर समझा जा सकता है। एक इमारत की दीवारें, ज़मीन तथा छत, सब मिलकर उस इमारत को एक विशेष आकार देती हैं।

पर यदि इस तुलना का प्रयोग ज़्यादा सख्ती से किया जाए तो यह रूपक अपने आप में गलतफ़हमी पैदा करने वाला हो सकता है। सामाजिक संरचना मानवीय क्रियाओं तथा संबंधों से बनती है। जो पक्ष इन्हें नियमितता प्रदान करता है, वह है अलग-अलग काल अवधि में एवं भिन्न-भिन्न स्थानों में इन क्रियाओं एवं संबंधों का लगातार दोहराया जाना। अतः सामाजिक विश्लेषण की प्रक्रिया में सामाजिक पुनरूत्पादन

© NCERT not to be republished

ग्रामीण तथा नगरीय क्षेत्रों की भिन्न प्रकार की इमारतें

तथा सामाजिक संरचना एक–दूसरे से जुड़े हुए हैं। उदाहरण के लिए, एक विद्यालय तथा एक परिवार की संरचना को लेते हैं। विद्यालय में कुछ विशिष्ट प्रकार के क्रियाकलाप वर्षों से दोहराए जाते हैं जो आगे चलकर संस्थाएँ बनते हैं जैसे विद्यालय में दाखिले के तरीके, आचरण संबंधी नियम, वार्षिकोत्सव, प्रातःकालीन सभा और कहीं–कहीं विद्यालयी गीत। ठीक इसी प्रकार से परिवार में आचरण के कुछ मानक स्तर जैसे, विवाह के तौर–तरीके, संबंधों के अर्थ उम्मीदें तथा उत्तरदायित्व होते हैं। परिवार में वृद्ध सदस्यों की मृत्यु एवं विद्यालय से पुराने विद्यार्थियों का चले जाना एवं इनके स्थान पर नए सदस्यों का प्रवेश होता रहता है और यह संस्था चलती रहती है। पर हम यह भी जानते हैं कि परिवार तथा विद्यालय के अंदर परिवर्तन होते रहते हैं।

उपरोक्त परिचर्चा तथा क्रियाकलाप हमें यह समझने में मदद करता है कि मानव द्वारा निर्मित समाज उस इमारत की तरह होता है जिसकी प्रत्येक क्षण उन्हीं ईंटों से पुनर्रचना होती है जिनसे उसे बनाया गया है। जैसा कि हमने स्वयं देखा है कि मनुष्य विद्यालय तथा परिवार में संरचना की पुनर्रचना हेतु परिवर्तन करते हुए समूचे परिवर्तन को प्रस्तुत करता है। वे प्रतिदिन विभिन्न स्तरों पर पुनर्रचना के लिए सहयोग करते हैं। यह भी कम सच नहीं है कि उनमें एक दूसरे के साथ दूषित तथा क्रूर प्रतियोगिता भी होती है। सच्चाई यह है कि सहयोगात्मक व्यवहार के साथ ही साथ हम गंभीर प्रकृति के संघर्षों को भी देखते हैं और जैसा कि हम आगे देखेंगे कि सहयोग को ज़बरदस्ती लागू भी किया जाता है ताकि संघर्षों को छिपाया जा सके।

एमिल दुर्खाइम द्वारा आगे बढ़ाया जाने वाला एक मुख्य विषय यह (और उनके बाद में कई अन्य समाजशास्त्रियों द्वारा भी कार्य किया गया) है कि समाज अपने सदस्यों की क्रियाओं पर सामाजिक प्रतिबंध लगाते हैं। दुर्खाइम ने तर्क

क्रियाकलाप 1

अपने बड़े–बुजुर्गों (दादा/नाना) अथवा उनकी पीढ़ी के अन्य लोगों से बातचीत कर यह पता कीजिए कि परिवारों/विद्यालयों में किस प्रकार का परिवर्तन आया है तथा किन किन पक्षों में वे आज भी वैसे ही हैं।

पुराने चलचित्रों/धारावाहिकों/उपन्यासों में परिवारों के प्रस्तुतिकरण की तुलना समकालीन प्रस्तुतियों से कीजिए।

क्या आप अपने परिवार में सामाजिक आचरण के प्रतिमानों (पैटर्नस्) और नियमितताओं को समझते हैं? दूसरे शब्दों में, क्या आप अपने परिवार की संरचना का वर्णन कर सकते हैं?

विद्यालय को एक संरचना के रूप में आपके शिक्षक कैसे लेते हैं? इस पर उनसे विचार–विमर्श कीजिए। क्या छात्रों, शिक्षकों तथा कर्मचारियों को इस संरचना को बनाए रखने के लिए कुछ विशेष रूप में काम करना पड़ता है? क्या आप अपने विद्यालय अथवा परिवार में किसी प्रकार के परिवर्तन के बारे में सोच सकते हैं? क्या इन परिवर्तनों का विरोध हुआ? किसने इनका विरोध किया और क्यों?

दिया कि व्यक्ति पर समाज का प्रभुत्व होता है। समाज व्यक्ति की कुल क्रियाओं से कहीं अधिक है; इसमें 'दृढ़ता' अथवा 'कठोरता' है जो भौतिक पर्यावरण की संरचना के समान है। सोचिए कि एक व्यक्ति ऐसे कमरे में खड़ा है जहाँ बहुत सारे दरवाज़े हैं। कमरे की संरचना व्यक्ति की संभावित क्रियाओं को बाध्य करती है। उदाहरण के तौर पर दीवारों तथा दरवाज़ों की स्थिति, प्रवेश तथा निकास के रास्तों को दर्शाती है। दुर्खाइम के अनुसार, सामाजिक संरचना, हमारी क्रियाओं को समानांतर रूप से बाध्य करती है, इसकी सीमा तय करती है कि हम एक व्यक्ति के रूप में क्या कर सकते हैं? यह हमसे 'बाह्य' है ठीक उसी प्रकार से जैसे कमरे की दीवारें होती हैं।

अन्य सामाजिक चिंतक जैसे कार्ल मार्क्स भी सामाजिक संरचना की बाध्यता पर बल देते हैं लेकिन साथ ही मनुष्य की सृजनात्मकता को महत्त्वपूर्ण मानते हैं जो सामाजिक संरचना को परिवर्तित भी करती है और उसे पुनः उत्पादित भी करती है। मार्क्स ने यह तर्क दिया कि मनुष्य इतिहास बनाता है, परंतु वह इतिहास निर्माण न तो उसकी इच्छा पर और न ही उसकी मनपसंद शर्तों पर आधारित होता है। अपनी इच्छानुसार नहीं और न ही अपनी मनपसंद शर्तों पर, बल्कि इतिहास का निर्माण उन ऐतिहासिक तथा संरचनात्मक स्थिति की उन बाध्यताओं तथा संभावनाओं के अंतर्गत होता है जहाँ वह जीवनयापन कर रहा है।

क्रियाकलाप 2

ऐसे कुछ उदाहरण सोचिए जो दोनों स्थितियों को प्रकट करते हों–किस प्रकार मनुष्य सामाजिक संरचना से बाध्य होता है तथा जहाँ व्यक्ति सामाजिक संरचना की अवहेलना करता है और उसे बदल देता है। अपनी पूर्व पुस्तक में समाजीकरण पर हुई परिचर्चा को याद कीजिए (पृष्ठ 88–89)।

दुर्खाइम के इस दृष्टिकोण को उनके प्रसिद्ध विवरण में दिया गया है –

जब मैं अपने कर्तव्यों का निर्वहन एक भाई, एक पति अथवा देश के नागरिक के रूप में करता हूँ तथा दिए गए अपने वचन को पूर्ण करता हूँ। मैं अपने दायित्वों को पूरा करता हूँ जिन्हें कानून तथा प्रथा में परिभाषित किया गया है तथा जो मुझसे तथा मेरी क्रियाओं से परे या बाह्य है .... ठीक इसी प्रकार, भक्त जन्म से ही, पूर्व स्वीकृत, अपने धार्मिक जीवन की मान्यताओं तथा क्रियाओं को पहचान लेता है; अगर उनका अस्तित्व उसके जन्म से पूर्व था, तो इसका अर्थ है कि उनका अस्तित्व उसके बाहर है। मैं अपने विचारों को प्रेषित करने के लिए जिन चिह्नों का प्रयोग करता हूँ, मैं अपने कर्जों को चुकाने के लिए जिस मुद्रा का प्रयोग करता हूँ, मैं अपने व्यापारिक संबंधों के लिए जिन क्रेडिट उपकरणों का प्रयोग करता हूँ, मैं अपने पेशे में जिन कर्मों का अनुनयन करता हूँ इत्यादि–इनका मेरे द्वारा उपयोग किए जाने पर भी ये स्वतंत्र रूप से कार्य करते हैं। समाज के प्रत्येक व्यक्ति को ध्यान में रखते हुए इस प्रकार की टिप्पणी इनमें से प्रत्येक के लिए की जा सकती है।

© NCERT not to be republished

अब हम इस स्तर पर सामाजिक स्तरीकरण की उस संकल्पना की पुनरावृत्ति करना चाहेंगे जो प्रारंभिक पुस्तक के अध्याय 2 का भाग है।

सामाजिक स्तरीकरण से अभिप्राय समाज में समूहों के बीच संरचनात्मक असमानताओं के अस्तित्व, भौतिक अथवा प्रतीकात्मक पुरस्कारों की पहुँच से है। हालाँकि प्रत्येक समाज में किसी न किसी रूप में सामाजिक स्तरीकरण विद्यमान है, परंतु आधुनिक समाज धन तथा शक्ति की असमानताओं के कारण पहचाने जाते हैं। एक तरफ़ जहाँ आधुनिक समाज में स्तरीकरण के सर्वाधिक प्रचलित रूपों में वर्ग-विभाजन है, वहीं दूसरी ओर प्रजाति तथा जाति, क्षेत्र तथा समुदाय, जनजाति तथा लिंग इत्यादि सामाजिक स्तरीकरण के आधार बने हैं।

आपको याद होगा कि सामाजिक संरचना में सामाजिक व्यवहार के निश्चित प्रतिमान (पैटर्न) निहित होते हैं। सामाजिक स्तरीकरण एक विस्तृत सामाजिक संरचना के भाग के रूप में असमानता के निश्चित प्रतिमान द्वारा पहचाना जाता है। असमानता कोई ऐसा अवयव नहीं है जो समाज में विभिन्न व्यक्तियों के बीच आकस्मिक रूप से वितरित हो। यह तो व्यवस्थित रूप से विभिन्न प्रकार के सामाजिक समूहों की सदस्यता से जुड़ी हुई है। एक समूह के सदस्यों की विशेषताएँ समान होती हैं, और यदि वे उच्च स्थिति में हैं तो उनका प्रयत्न होगा कि उनकी विशेषाधिकृत स्थिति उनके बच्चों को मिल जाए। स्तरीकरण की संकल्पना, तब उस विचार को संदर्भित करती है जहाँ समाज का विभाजन एक निश्चित प्रतिमान के रूप में समूहों में होता है, तथा यह संरचना पीढ़ी दर पीढ़ी चलती रहती है (जयराम 1987:22)।

असमान रूप से बाँटे गए लाभों के अंतर को समझना भी आवश्यक है। लाभ के तीन बुनियादी प्रकार हैं जिसका विशेषाधिकार प्राप्त समूहों द्वारा उपभोग किया जाता है:

(अ) जीवन अवसर—वे सभी भौतिक लाभ जो प्राप्तकर्ता के जीवन की गुणवत्ता को सुधारते हैं—उनमें केवल संपत्ति तथा आय जैसे आर्थिक लाभों को ही शामिल नहीं किया जाता बल्कि अन्य सुविधाओं; जैसे—स्वास्थ्य, रोज़गार, सुरक्षा तथा मनोरंजन को भी शामिल किया जाता है।

(ब) सामाजिक प्रस्थिति—मान-सम्मान तथा समाज के अन्य व्यक्तियों की नज़रों में उच्च स्थान।

(स) राजनैतिक प्रभाव—एक समूह द्वारा दूसरे समूह अथवा समूहों पर प्रभुत्व जमाना अथवा निर्णय निर्धारण में प्रमाणाधिक्य प्रभाव अथवा निर्णयों से अत्यधिक लाभ उठाना।

आगे होने वाली चर्चा में हम उपरोक्त तीन सामाजिक प्रक्रियाओं की तरफ़ आपका ध्यान आकर्षित करेंगे और बताएँगे कि किस प्रकार सामाजिक स्तरीकरण के विभिन्न आधार; जैसे—लिंग अथवा वर्ग सामाजिक प्रक्रियाओं को बाधित करते हैं। व्यक्ति तथा वर्गों को मिलने वाले अवसर तथा संसाधन जो प्रतियोगिता, सहयोग अथवा संघर्ष के रूप में सामने आते हैं—इन्हें सामाजिक संरचना तथा सामाजिक स्तरीकरण के द्वारा आकार दिया जाता है। साथ ही मनुष्य पूर्वस्थित संरचना तथा स्तरीकरण में परिवर्तन लाने का प्रयास करता है।

समाजशास्त्र में सामाजिक प्रक्रियाओं को समझने के दो तरीके

अपनी प्रारंभिक पुस्तक कक्षा XI की *समाजशास्त्र परिचय* में आपने सामान्य ज्ञान की सीमाओं को समझा है। समस्या यह नहीं है कि सामान्य ज्ञान आवश्यक रूप से गलत ही हो परंतु यह इसका परीक्षण नहीं हुआ है तथा इसे हलके रूप में लिया जाता है। इसके विपरीत, सामाजिक परिप्रेक्ष्य में प्रत्येक मुद्दे पर सवाल किए जाते हैं और किसी भी मुद्दे को ऐसे ही नहीं मान लिया जाता है। अतः यह केवल ऐसी व्याख्या से संतुष्ट होकर शांत नहीं होगा जिससे पता चलता है कि मनुष्यों में प्रतियोगिता अथवा सहायता या संघर्ष जैसा भी मामला हो – क्योंकि ऐसा करना मनुष्य का स्वभाव होता है। इस प्रकार की मान्यता के पीछे यह व्याख्या है कि आंतरिक तथा सार्वभौमिक रूप से यह मनुष्य की प्रकृति है कि इस प्रकार की प्रक्रियाओं का लेखा–जोखा रखा जाए। हालाँकि, जैसा हमने पहले देखा है, समाजशास्त्र मनोवैज्ञानिक अथवा प्रकृतिवादी व्याख्याओं से संतुष्ट नहीं होता है। (देखें पृष्ठ 8–9, पहली पुस्तक) समाजशास्त्र सहयोग, प्रतिस्पर्धा तथा संघर्ष की प्रक्रियाओं की व्याख्या समाज की वास्तविक संरचना के अंतर्गत करना चाहता है।

क्रियाकलाप 3

अपने प्रतिदिन के जीवन में सहयोग, प्रतियोगिता तथा संघर्ष के उदाहरण ढूँढ़िए।

हमने पिछली पुस्तक में चर्चा की थी कि समाज में किस प्रकार विभेद तथा बहुलता की समझ व्याप्त है। (पृष्ठ 27–28, 41)। विभिन्न संस्थाओं की समझ, चाहे वह परिवार हो, अर्थव्यवस्था अथवा सामाजिक स्तरीकरण या सामाजिक नियंत्रण हो। हमने देखा कि किस प्रकार प्रकार्यवादी तथा संघर्ष के परिप्रेक्ष्य के अनुसार संस्थाओं की समझ में भिन्नता है। अतः कोई आश्चर्य नहीं कि ये दोनों संदर्भ इन प्रक्रियाओं को थोड़ा हट कर समझना चाहते हैं। परंतु दोनों, कार्ल मार्क्स (सामान्यतः संघर्ष के परिप्रेक्ष्य से जुड़े हुए) तथा एमिल दुर्खाइम (सामान्यतः प्रकार्यवादी संदर्भ में पहचाने जाते हैं) यह मानकर चलते हैं कि मनुष्यों को अपनी बुनियादी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए सहयोग करना होता है तथा अपने और अपनी दुनिया के लिए उत्पादन और पुनः उत्पादन करना पड़ता है।

संघर्ष के परिप्रेक्ष्य में इस बात पर बल दिया गया कि किस प्रकार सहयोग के प्रकारों ने एक ऐतिहासिक समाज को दूसरे ऐतिहासिक समाज में परिवर्तित कर दिया। उदाहरणतः यह देखा जा सकता है कि सामान्यतः सरल समाजों में जहाँ अतिरिक्त उत्पादन नहीं होता था, वहाँ व्यक्तियों तथा समूहों में आपसी सहयोग था और वे वर्ग, जाति अथवा प्रजाति में नहीं बँटे थे। परंतु जिस समाज में अतिरिक्त उत्पादन होता था, चाहे वे जमींदार हो अथवा पूँजीपति, प्रभावशाली वर्ग का अतिरिक्त उत्पादन पर अधिकार होता था तथा सहयोग भी संभावित संघर्ष तथा प्रतियोगिता से जुड़ा होता था। संघर्ष का दृष्टिकोण इस बात पर बल देता है कि समूहों तथा व्यक्तियों का स्थान उत्पादन प्रणाली के संबंधों में भिन्न तथा असमान होता है। अतः कारखाने के मालिक तथा मज़दूर अपने प्रतिदिन

विभिन्न प्रकार की प्रक्रियाएँ

के कार्यों में सहयोग करते हैं परंतु कुछ हद तक उनके हितों में संघर्ष उनके संबंधों को परिभाषित करते हैं।

हमारी संघर्ष के परिप्रेक्ष्य संबंधी समझ यह बताती है कि जहाँ समाज जाति, वर्ग अथवा पितृसत्ता के आधार पर बँटा होता है वहीं कुछ समूह सुविधावंचित हैं तथा एक दूसरे के प्रति भेदभावमूलक स्थिति बरतते हैं। इससे भी आगे, प्रभावशाली समूहों में यह स्थिति सांस्कृतिक मानदंडों, ज़्यादातर ज़बरदस्ती अथवा हिंसा द्वारा भी उत्पन्न की जाती है। जैसा कि आप आगे आनेवाले अनुच्छेदों में देखेंगे कि प्रकार्यवादी परिप्रेक्ष्य इस प्रकार के मानदंडों अथवा संस्तुतियों की भूमिका की प्रशंसा करने में नहीं चूकता। परंतु इन सबके प्रकार्यों को समाज की संपूर्णता के रूप में समझाता है, न कि उस संदर्भ में जहाँ प्रभावशाली समूहों द्वारा समाज को नियंत्रित किया जाता है।

प्रकार्यवादी परिप्रेक्ष्य का सरोकार मुख्य रूप से समाज में 'व्यवस्था की आवश्यकता' से है – जिन्हें कुछ प्रकार्यात्मक अनिवार्यताएँ, प्रकार्यात्मक अपेक्षा तथा पूर्वापेक्षाएँ कहा जाता है। ये विस्तृत रूप में उन शर्तों को पूरा करती हैं जो व्यवस्था के अस्तित्व के लिए आवश्यक हैं (इसलिए इन्हें अस्तित्व में बनाए रखा जाता है तथा इनको नष्ट होने से बचाया जाता है), जैसे–

- नए सदस्यों का समाजीकरण
- संचार की साझा प्रक्रिया
- व्यक्ति की भूमिका निर्धारण के तरीके

आप अच्छी तरह से जानते हैं कि किस प्रकार प्रकार्यवादी परिप्रेक्ष्य इस तथ्य पर आधारित है कि समाज के विभिन्न भागों का एक प्रकार्य अथवा भूमिका होती है जो संपूर्ण समाज की प्रकार्यात्मकता के लिए जरूरी होती है। इस संदर्भ में सहयोग, प्रतियोगिता तथा संघर्ष को प्रत्येक समाज की सार्वभौमिक विशेषता के रूप में देखा जा सकता है, जो समाज में रहने तथा इच्छापूर्ति करने वाले विभिन्न व्यक्तियों की अनिवार्य अन्तःक्रियाओं का परिणाम है।

चूँकि इस परिप्रेक्ष्य का मुख्य बिंदु व्यवस्था को बनाए रखना है, प्रतिस्पर्धा तथा संघर्ष

डोली में बैठकर ससुराल जाते हुए दुल्हन

को इस दृष्टि से भी समझा जाता है कि अधिकतर स्थितियों में ये बिना ज़्यादा हानि एवं कष्ट के सुलझ जाते हैं तथा साथ ही ये समाज की भी विभिन्न प्रकार से मदद करते हैं।

समाजशास्त्रीय अध्ययनों ने यह भी दिखाया है कि किस प्रकार मानदंडों तथा समाजीकरण के प्रतिरूप अधिकतर इस बात का ध्यान रखते हैं कि एक विशेष सामाजिक प्रणाली सतत बनी रहे, चाहे वह एक विशेष समूह के हितों की विरोधी ही क्यों न हो। दूसरे शब्दों में, ***सहयोग, प्रतिस्पर्धा एवं संघर्ष के आपसी संबंध अधिकतर जटिल होते हैं तथा ये आसानी से अलग नहीं किए जा सकते।***

यह समझने के लिए कि सहयोग और संघर्ष किस प्रकार अनुलग्नित हैं, तथा 'बाध्य' एवं 'स्वैच्छिक' सहयोग में क्या अंतर है, आइए, अपने जन्म (नेटल) के परिवार में संपत्ति पर स्त्री का अधिकार जैसे विवादास्पद मुद्दे पर नज़र डालें। समाज के विभिन्न हिस्सों में यह जानने के लिए कि जन्म की संपत्ति के संबंध में उनका क्या दृष्टिकोण है, एक अध्ययन किया गया (पृष्ठ 47, 52-53 *समाजशास्त्र परिचय* देखिए)। स्त्रियों की एक अच्छी खासी संख्या ने (41.7%) संपत्ति के अपने अधिकार पर बोलते हुए अपनी बेटी के प्रेम तथा बेटी के लिए अपने प्रेम के विषय को उठाया। परंतु इस विषय पर भावात्मक न होकर आशंका पर बल देते हुए कहा कि वे संपूर्ण अथवा अंशतः किसी भी प्रकार का अपनी जन्म की संपत्ति पर दावा नहीं करेंगी क्योंकि वे डरती थीं कि ऐसा करने से भाइयों के साथ उनके संबंधों में कड़वाहट आ जाएगी या भाभियाँ उनसे घृणा करने लगेंगी और परिणामस्वरूप अपने पिता के घर उनका आना-जाना बंद हो जाएगा। यह दृष्टिकोण एक प्रभावशाली रूपक को दिखाता है जहाँ एक ओर स्त्री संपत्ति से इनकार करती है . . . तो दूसरी ओर एक स्त्री संपत्ति पर अपना 'हक जमाने वाली', कंजूस तथा चालाक समझी जाती है। संवेदनाओं में एक करीबी संपर्क होता है तथा प्रतिवर्ती रूप में अपने जन्म के परिवार का एक भाग बने रहने तथा उसकी उन्नति में सहायक होने और मुसीबत की घड़ी में काम आने की इच्छा बनी थी।

क्रियाकलाप 4

विचार कीजिए–क्या विस्तृत मानक बाध्यताओं के कारण महिलाएँ अपने आपको संघर्ष अथवा प्रतिस्पर्धा से अलग रखती हैं अथवा सहयोग देती हैं। क्या वे पुरुषों के उत्तराधिकार के मानदंड से सहयोग इसलिए करती हैं कि यदि वे ऐसा नहीं करेंगी तो भाइयों के प्रेम से वंचित हो जाएँगी?

क्रियाकलाप 2 आपको समझने में मदद करेगा कि सहयोगात्मक व्यवहार को समाज के गहरे संघर्षों की उपज के रूप में भी देखा जा सकता है। परंतु जब इन संघर्षों की खुलकर अभिव्यक्ति नहीं होती अथवा इन्हें खुली चुनौती नहीं दी जाती तो यह छवि बनती है कि कहीं कोई संघर्ष नहीं है, केवल सहयोग ही विद्यमान है। उपरोक्त परिस्थितियों को समझाने के लिए प्रकार्यवादी 'व्यवस्थापन' शब्द का प्रयोग करते हैं, जहाँ महिला अपने पितृ परिवार में संपत्ति के अपने अधिकार पर किसी प्रकार का दावा करना पसंद नहीं करेगी। संघर्षों के रहते हुए भी समझौता एवं सह–अस्तित्व की कोशिश के रूप में इसे देखा जा सकता है।

क्रियाकलाप 5

कुछ अन्य सामाजिक व्यवहारों के बारे में सोचिए जो सहयोगात्मक दिखाई देते हों परंतु समाज के गहरे संघर्षों को अपने अंदर छिपाए हों।

सहयोग तथा श्रम विभाजन

सहयोग का विचार मानव व्यवहार की कुछ मान्यताओं पर आधारित है। यह तर्क दिया जाता है कि मनुष्य के सहयोग के बिना मानव जाति का अस्तित्व कठिन हो जाएगा। आगे यह तर्क दिया जाता है कि यहाँ तक कि जानवरों की दुनिया में भी हम सहयोग के प्रमाण देख सकते हैं, चाहे वे चींटियाँ हों, मधुमक्खियाँ हों अथवा स्तनपायी पशु। परंतु पशुओं की दुनिया से तुलना सावधानीपूर्वक की जानी चाहिए। हम समाजशास्त्र की दो भिन्न सैद्धांतिक परंपराओं का प्रयोग इस बिंदु के विश्लेषण के लिए करेंगे जिनका एमिल दुर्खाइम तथा कार्ल मार्क्स ने प्रतिनिधित्व किया।

अधिकतर समय समाजशास्त्र में इस मान्यता को सहमति नहीं मिली कि मनुष्य का स्वभाव घिनौना तथा क्रूर होता है। एमिल दुर्खाइम ने इस दृष्टिकोण कि, "आदिम मानव जाति की एकमात्र उत्तेजना यही थी कि उनकी भूख तथा प्यास की हमेशा पूरी संतुष्टि हो", के विपक्ष में इस प्रकार के तर्क दिए–

> ऐसे विचारकों ने नैतिक जीवन के आवश्यक अवयवों को नज़रअंदाज किया, वे हैं, संयमित प्रभाव का प्रयोग जो समाज अपने सदस्यों पर करता है, जो उनके अस्तित्व तथा चुनाव के संघर्ष की पाश्विक क्रिया को संयमित तथा शून्य कर देता है। जहाँ कहीं भी समाज है, वहाँ पर परार्थवाद है, क्योंकि वहाँ एकता है। अतः हम परार्थवाद को मनुष्यता के प्रारंभ से ही देखते हैं और यहाँ तक कि असंयमित रूप में भी (दुर्खाइम 1933)।

दुर्खाइम के लिए एकता समाज का नैतिक बल है, तथा यह सहयोग और इस तरह समाज के प्रकार्यों को समझने के लिए बुनियादी अवयव है। श्रम विभाजन की भूमिका जिसमें सहयोग निहित है, यथार्थ रूप से समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति करती है। श्रम विभाजन एक ही समय में जहाँ प्रकृति का नियम है वही दूसरी ओर मनुष्य व्यवहार का नैतिक नियम भी है।

दुर्खाइम ने यांत्रिक तथा सावयवी एकता में अंतर स्पष्ट किया जो क्रमशः पूर्व औद्योगिक तथा जटिल औद्योगिक समाजों की विशेषता थी। यांत्रिक एकता संहति का एक रूप है जो

© NCERT not to be republished

बुनियादी रूप से एकरूपता पर आधारित है। इस समाज के अधिकांश सदस्य एक जैसा जीवन व्यतीत करते हैं, कम से कम विशिष्टता अथवा श्रम–विभाजन को हमेशा आयु तथा लिंग से जोड़ा जाता है, यह समाज की मुख्य विशेषता है। इस समाज के सदस्य परस्पर अपनी मान्यताओं तथा संवेदनाओं, अंतरविवेक तथा चेतना से जुड़े होते हैं। सावयवी एकता सामाजिक संहति का वह रूप है जो श्रम–विभाजन पर आधारित है तथा जिसके फलस्वरूप समाज के सदस्यों में सह निर्भरता है। जैसे–जैसे व्यक्ति विशिष्टता हासिल करता है वैसे–वैसे दूसरों पर अधिक निर्भर होता जाता है। कृषि आधारित जीविका में लगा एक परिवार अपने जैसा काम करने वालों की थोड़ी या बगैर किसी मदद के जीवित रह सकता है परंतु कपड़ा अथवा कार उद्योग में लगा व्यापारी अन्य विशिष्ट कर्मचारियों के बिना जीवित नहीं रह सकता जो उनकी बुनियादी ज़रूरतों को पूरा करते हैं।

कार्ल मार्क्स भी मनुष्य जीवन तथा पशु जीवन में अंतर स्पष्ट करते हैं। जहाँ दुर्खाइम परार्थवाद तथा एकता को मानव दुनिया का विशिष्ट लक्षण मानते हैं वहीं मार्क्स चेतना पर बल देते हैं। वे लिखते हैं–

> मनुष्यों तथा पशुओं में अंतर चेतना, धर्म तथा किसी अन्य वस्तु के आधार पर किया जा सकता है। जैसे ही वे अपनी आजीविका के साधन उत्पन्न करने लगते हैं, वे स्वयं को पशुओं से भिन्न समझना प्रारंभ कर देते हैं–यह प्रयास उनके भौतिक संगठन द्वारा निश्चित होता है। आजीविका के साधनों के उत्पादन से मनुष्य परोक्ष रूप से अपने भौतिक जीवन को प्रजनित करता है (मार्क्स 1972:37)।

मार्क्स का उपर्युक्त कथन कठिन लग सकता है परंतु सहयोग मनुष्य जीवन को पशु जीवन से किस प्रकार अलग करता है, को समझने में मदद करेगा। मनुष्य केवल सहयोग के लिए समायोजन तथा सामंजस्य ही नहीं करते बल्कि इस प्रक्रिया में समाज को बदलते भी हैं। उदाहरण के लिए, सदियों से पुरुषों तथा महिलाओं ने प्राकृतिक बाध्यताओं में अपने आप को समायोजित किया है। विभिन्न तकनीकी आविष्कारों ने मनुष्य के जीवन को ही नहीं बदला है बल्कि समय के साथ प्रकृति को भी बदल दिया है। इस प्रकार से मनुष्य सहयोग करते हुए निष्क्रिय रूप से केवल समायोजन और सामंजस्य ही नहीं करते बल्कि उस प्राकृतिक तथा सामाजिक संसार को भी बदल देते हैं जहाँ वे समायोजन करते हैं। हमने पिछली पुस्तक *समाजशास्त्र परिचय* में संस्कृति पर एक अध्याय में देखा कि किस प्रकार भारतीयों को ब्रिटिश साम्राज्यवाद के अनुभवों के कारण अंग्रेज़ी भाषा के साथ समायोजन, सामंजस्य तथा सहयोग करना पड़ा था। लेकिन इस प्रक्रिया में 'हिंगलिश' का उद्‌भव एक जीवित सामाजिक यथार्थ है (पृष्ठ 81–82)।

यद्यपि दुर्खाइम ने प्रकार्यवादी संदर्भ पर तथा मार्क्स ने संघर्ष के परिप्रेक्ष्य में सहयोग पर बल दिया, परंतु दोनों के विचार अलग हैं। मार्क्स के अनुसार ऐसे समाज में जहाँ वर्ग विद्यमान है वहाँ सहयोग स्वैच्छिक नहीं होता। उनका तर्क है,

"सामाजिक शक्ति अर्थात बहुस्तरीय उत्पादक शक्तियाँ, जिनका उद्‌भव विभिन्न व्यक्तियों के सहयोग तथा श्रम विभाजन द्वारा होता है, इन व्यक्तियों को लगता है कि उनका सहयोग स्वैच्छिक न होकर स्वाभाविक होता है, यह स्वयं की सम्मिलित ताकत का परिणाम न होकर एक अनजान ताकत का परिणाम है जो उनके बाहर स्थित है" (मार्क्स 1972:53)। मार्क्स ने 'अलगाव' शब्द का प्रयोग श्रम की मूर्त अन्तर्वस्तु तथा श्रम के उत्पाद पर मज़दूरों के नियंत्रण में कमी के संदर्भ में किया है। दूसरे शब्दों में, मज़दूर अपने कार्य को किस प्रकार व्यवस्थित करे, इस पर उनका नियंत्रण नहीं होता; और इसी प्रकार वे अपने श्रम के उत्पादन पर से भी अपना नियंत्रण खो देते हैं। हम यहाँ दो विपरीत उदाहरणों की चर्चा कर सकते हैं। सन्तुष्टि तथा सृजनात्मकता का भाव जो एक बुनकर या कुम्हार या लुहार को अपने काम से मिलता है तथा दूसरी ओर एक फैक्ट्री में काम करने वाले मज़दूर जिसका एकमात्र कार्य पूरे दिन में लीवर खींचना या बटन दबाना होता है। इन हालातों में सहयोग आरोपित होता है।

प्रतिस्पर्धा–अवधारणा एवं व्यवहार के रूप में

जैसा कि सहयोग के विषय में हुआ, प्रतियोगिता की संकल्पना इस विचार के साथ आगे बढ़ती है कि प्रतिस्पर्धा विश्वव्यापी तथा स्वाभाविक है। हम यह जान चुके हैं कि किस प्रकार समाजशास्त्र की व्याख्या प्रकृतिवादी व्याख्या से भिन्न है, अतः यहाँ यह आवश्यक है कि एक सामाजिक तत्व के रूप में प्रतिस्पर्धा को समझा जाए जिसका समाज में उद्‌भव हुआ है तथा एक निश्चित ऐतिहासिक समय में यह प्रभावी रही है। समकालीन समय में यह सर्वप्रमुख विचार है तथा अधिकतर यह समझना मुश्किल होता है कि कहीं ऐसा समाज हो सकता है जहाँ प्रतिस्पर्धा एक मार्गदर्शक ताकत न हो।

यह दंतकथा एक स्कूल अध्यापक, जो अपने अनुभवों को अपने बच्चों के साथ अफ्रीका के एक पिछड़े स्थान से बता रहा है, हमारा ध्यान उस तथ्य की ओर आकर्षित करता है जहाँ प्रतिस्पर्धा को स्वयं समाजशास्त्रीय रूप में न कि स्वाभाविक वृत्ति के रूप में समझाना था। यह दंतकथा अध्यापक की इस मान्यता पर आधारित है कि बच्चे दौड़ने की प्रतिस्पर्धा के विचार से प्रसन्न होंगे, जहाँ विजेता को एक चॉकलेट इनाम के रूप में दिया जाएगा। आश्चर्य, उनके इस सुझाव ने बच्चों में किसी प्रकार के उत्साह का संचरण नहीं किया बल्कि दूसरी तरफ दुश्चिंता और दुख को बढ़ा दिया। जाँच, पड़ताल करने पर आगे बताया कि उनकी ऐसे खेलों में अरुचि है जहाँ 'विजेता' तथा 'पराजित' होंगे। यह उनके आनंद करने के विचार के विरुद्ध है उनके लिए आनंद का विचार आवश्यक तौर पर सहयोग तथा सामूहिक अनुभव है न कि प्रतिस्पर्धा जहाँ पुरस्कार कुछ लोगों को वंचित करता है तथा एक अथवा कुछ को पुरस्कृत करता है।

समकालीन विश्व में प्रतिस्पर्धा एक प्रमुख मानदंड तथा परिपाटी है। शास्त्रीय समाजवैज्ञानिकों

जैसे एमिल दुर्खाइम तथा कार्ल मार्क्स ने आधुनिक समाजों में व्यक्तिवाद तथा प्रतिस्पर्धा के विकास को एक साथ आधुनिक समाजों में देखा है। आधुनिक पूँजीवादी समाज जिस प्रकार कार्य करते हैं वहाँ दोनों का एक साथ विकास सहज है। यहाँ अत्यधिक कार्यकुशलता तथा लाभ के कमाने पर बल दिया जाता है। पूँजीवाद की मौलिक मान्यताएँ हैं–

(क) व्यापार का विस्तार,
(ख) श्रम विभाजन,
(ग) विशेषीकरण, और
(घ) बढ़ती उत्पादकता।

स्व–धारणीय संवृद्धि की ये प्रक्रियाएँ पूँजीवाद के केंद्रीय विचार से बढ़ावा प्राप्त करती हैं। बाज़ार क्षेत्र में विद्यमान मुक्त प्रतिस्पर्धा में तार्किक व्यक्ति, अपने लाभों को अधिक बढ़ाने की कोशिश में लगा रहता है।

प्रतिस्पर्धा की विचारधारा पूँजीवाद की सशक्त विचाराधारा है। इस विचारधारा का तर्क है कि बाज़ार इस प्रकार से कार्य करता है कि अधिकतम कार्यकुशलता सुनिश्चित हो सके। उदाहरण के लिए, प्रतिस्पर्धा यह सुनिश्चित करती है कि सर्वाधिक कार्यकुशल फर्म बची रहे। प्रतिस्पर्धा यह सुनिश्चित करती है कि अधिकतम अंक पाने वाला छात्र अथवा बेहतरीन छात्र को प्रसिद्ध कॉलेजों में दाखिला मिल सके और फिर बेहतरीन रोज़गार प्राप्त हो सके। इन सभी स्थितियों में 'बेहतरीन' होना सबसे बड़ा भौतिक पुरस्कार सुनिश्चित करता है।

क्रियाकलाप 6

27 फीसदी आरक्षण अन्य पिछड़े वर्गों को देने एवं सवर्ण जातियों में आर्थिक रूप से कमज़ोर वर्गों के लिए 10 प्रतिशत आरक्षण के सरकार के निर्णय पर भारत में ज़ोरदार वाद–विवाद हुए।

अखबारों, पत्रिकाओं तथा टी.वी. पर इस विषय के पक्ष तथा विपक्ष में दिए गए विभिन्न तर्कों को एकत्रित कीजिए।

विद्यालयों में 'ड्रॉप आउट' की दर, विशेषकर प्राइमरी विद्यालयों में, पर जानकारी हासिल कीजिए। (पिछली पुस्तक की पृष्ठ संख्या 65–67 देखिए)

अधिकतर निम्न जाति के विद्यार्थी स्कूल से ड्रॉप आउट होते हैं तथा शिक्षा के उच्च संस्थानों में अधिकतर उच्च जातियों का वर्चस्व है, इस संदर्भ में सहयोग, प्रतिस्पर्धा तथा संघर्ष की संकल्पना पर परिचर्चा करें।

ऐसे विचार कि मनुष्य स्वाभाविक रूप से प्रतिस्पर्धा करना चाहता है, को अन्य प्रकृतिवादी व्याख्याओं की भाँति आलोचनात्मक दृष्टि से समझा जाना चाहिए। (प्रारंभिक पुस्तक का पृष्ठ 9 देखिए) प्रतिस्पर्धा, पूँजीवाद के जन्म के साथ ही प्रबल इच्छा के रूप में फली–फूली। अगले पृष्ठ पर बॉक्स में दिए गए गद्यांश को पढ़िए तथा परिचर्चा कीजिए।

जे. एस. मिल जैसे उदारवादियों ने यह महसूस किया कि प्रतिस्पर्धा के प्रभाव अधिकतर नुकसानदायक होते हैं। यद्यपि उन्होंने महसूस किया कि आधुनिक प्रतिस्पर्धा का विवेचन

© NCERT not to be republished

'प्रत्येक की लड़ाई प्रत्येक के खिलाफ़, लेकिन साथ ही यह सबके लिए लड़ाई' है; यह इस अर्थ में कि आर्थिक प्रतिस्पर्धा निम्नतम लागत पर अधिकतम उत्पाद है। इससे भी आगे, 'व्यक्तिवाद का समाज में तीव्र विस्तार एवं विभिन्न प्रकार के हित, जो पूरे समूह के सदस्यों को एक साथ जोड़े रहते हैं, यह विचार तभी जीवित रहता है जब व्यक्ति पर प्रतिस्र्पा मूलक संघर्ष की आवश्यकताओं को थोप दिया जाता है।'

प्रतिस्पर्धा तथा पूँजीवाद के तहत उन्नीसवीं शताब्दी की संपूर्ण मुक्त व्यापार अर्थव्यवस्था, आर्थिक विकास को आगे बढ़ाने में आवश्यक हो सकती है। अमेरीकी अर्थव्यवस्था के अत्यंत तीव्र गति से विकास को वहाँ प्रतिस्पर्धा की अधिकतम उपस्थिति के गुण के रूप में देखा जा सकता है। परंतु फिर भी हम प्रतिस्पर्धा के दायरे या प्रतियोगी भावना की तीव्रता को विभिन्न समाजों में आर्थिक विकास की दर के साथ सकारात्मक सह संबंध का रूप देने में कठिनाई महसूस करते हैं। वहीं दूसरी तरफ़ यह माने जाने के भी कारण हैं कि प्रतिस्पर्धा के कुछ बुरे प्रभाव भी हैं (बोटोमोर 1975:174-5)।

क्रियाकलाप 7

इस विषय पर वाद-विवाद का आयोजन कीजिए – 'प्रतिस्पर्धा समाज के लिए सकारात्मक तथा आवश्यक हैं।' 'प्रतिस्पर्धा का विभिन्न विद्यार्थियों पर क्या प्रभाव पड़ता है' – इस विषय पर अपने स्कूल के अनुभवों के आधार पर निबंध लिखिए।

यह विचारधारा मान कर चलती है कि व्यक्ति बराबरी के स्तर पर प्रतिस्पर्धा करता है, अर्थात प्रत्येक व्यक्ति के लिए प्रस्थिति, शिक्षा, रोज़गार अथवा प्रतिस्पर्धा हेतु समान संसाधन रहते हैं। परंतु जैसा कि स्तरीकरण अथवा असमानता पर की गई पूर्व चर्चा दिखाती है, व्यक्ति को समाज में भिन्न प्रकार से अवस्थित किया गया है। यदि भारत में बच्चों की अधिकतम संख्या विद्यालय में नहीं जाती अथवा वे आज या कल पढ़ाई छोड़ देते हैं तो ऐसी स्थिति में वे हमेशा के लिए प्रतिस्पर्धा से बाहर हो जाते हैं।

क्रियाकलाप 8

विभिन्न अवसरों को पहचानिए जब हमारे समाज में एक व्यक्ति को प्रतिस्पर्धा करनी पड़ती है। आप स्कूल में प्रवेश से प्रारंभ करते हुए आगे जीवन में आने वाले विभिन्न अवस्थाओं को ले सकते हैं।

संघर्ष तथा सहयोग

संघर्ष शब्द का अर्थ है हितों में टकराहट। हमने पहले ही देखा है कि किस प्रकार से संबद्ध सिद्धांतवादी विश्वास करते हैं कि संसाधनों की कमी समाज में संघर्ष उत्पन्न करती है क्योंकि उन संसाधनों को पाने तथा उस पर कब्ज़ा करने के लिए प्रत्येक समूह संघर्ष करता है। संघर्ष के आधार भिन्न-भिन्न होते हैं। ये वर्ग अथवा जाति, जनजाति अथवा लिंग, नृजातीयता अथवा धार्मिक समुदायों में हो सकते हैं। एक नौजवान छात्र के नाते आप समाज में विद्यमान संघर्षों की विविधता से परिचित हैं।

विभिन्न संघर्षों के पैमाने तथा प्रकृति यद्यपि भिन्न होती है।

क्रियाकलाप 9

सोचिए, आज विश्व में वे कौन से विभिन्न प्रकार के संघर्ष हैं जो विद्यमान हैं। व्यापारिक स्तर पर विभिन्न राष्ट्रों तथा राष्ट्रों के समूह के बीच संघर्ष हैं। एक ही राष्ट्र के अंदर कई प्रकार के संघर्ष विद्यमान हैं। इन सबकी एक सूची बनाइए और चर्चा कीजिए कि किस रूप में वे समान तथा किस रूप में वे भिन्न हैं।

अधिकतर सामान्य ज्ञान की सोच के अनुसार समाज में संघर्षों की स्थिति नयी है। समाजशास्त्रियों ने इस तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित किया है कि सामाजिक विकास की विभिन्न अवस्थाओं में संघर्ष की प्रकृति तथा रूप सदैव परिवर्तित होते रहे हैं। परंतु संघर्ष किसी भी समाज का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा सदैव से रहा है। सामाजिक परिवर्तन तथा लोकतांत्रिक अधिकारों पर सुविधावंचित तथा भेदभाव का सामना कर रहे समूहों द्वारा हक जताना संघर्षों को और उभारता है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि संघर्ष पहले विद्यमान नहीं थे। बॉक्स में दिए गए उद्धरण इस पर बल देते हैं।

नए तथा पुराने के बीच संघर्ष आज विकासशील देशों के मंच बने हैं। प्राचीन प्रणाली नवीन ताकतों का मुकाबला नहीं कर पा रही है, न ही लोगों की नवीन आशाओं तथा आकांक्षाओं का प्रतिनिधत्व करती है। परंतु यह स्थिति मृतप्राय नहीं हैं–सच्चाई यह है कि ये अभी भी जीवित हैं। संघर्ष बेकार की बहस, विभ्रांति, विसंगति, तथा कई मौकों पर खून–खराबे को जन्म देता है। इन परिस्थितियों में समाजशास्त्रियों के लिए यह बेहद आवश्यक होता है कि वे अपने पुराने–अच्छे दिनों को याद करें। परंतु एक पल का परावर्तन उन्हें यह विश्वास दिला देगा कि पुरानी पद्धति संघर्ष से वंचित नहीं थी और उसने जनसंख्या के व्यापक भाग पर अमानुषिक अत्याचार किए। सैद्धांतिक दृष्टिकोण, जहाँ संघर्ष को व्याधिकीय माना जाता है अथवा जहाँ विज्ञान के नाम पर एक विशेष मूल्य के रूप में संतुलन का निवेश किया जाता है, परंतु यह स्थिति विकासशील समाजों के अध्ययन में रुकावट सिद्ध होती है।

(**स्रोत:** श्रीनिवास, एम.एन., 1972, *सोशल चेंज इन मॉडर्न इंडिया,* पृष्ठ 159–160, ओरियण्ट लोंगमैंन, नयी दिल्ली।)

यहाँ यह समझना आवश्यक है कि संघर्ष विसंगति अथवा प्रत्यक्ष झड़प के रूप में दिखाई देते हैं जहाँ ये खुल कर प्रकट किए जाते हैं। उदाहरण के तौर पर भूमि संसाधनों पर गहरे संघर्षों की प्रत्यक्ष प्रतिक्रिया का परिणाम है कृषक आंदोलन। आंदोलन की अनुपस्थिति का अर्थ संघर्ष की अनुपस्थिति नहीं है। अत: इस अध्याय में संघर्ष, अनिवार्य सहयोग तथा प्रतिरोध के संबंधों पर बल दिया गया है।

आइए, कुछ संघर्षों पर जो समाज में विद्यमान हैं तथा प्रतिस्पर्धा, सहयोग और संघर्ष के आपसी सहसंबंधों पर भी विचार करें। हम यहाँ केवल दो उदाहरणों को लेंगे। प्रथम, परिवार तथा घर है और दूसरा, भूमि–आधारित संघर्ष।

पारंपरिक तौर पर परिवार तथा घर सामंजस्यपूर्ण इकाई के रूप में देखे जाते रहे हैं जहाँ सहयोग प्रमुख प्रक्रिया थी तथा परार्थवाद मनुष्य के आचरण के प्रेरणात्मक सिद्धांत थे। पिछले तीन दशकों से महिलावादी विश्लेषकों द्वारा इस मान्यता पर प्रश्न उठाए जा रहे हैं। अमर्त्य सेन जैसे विद्वानों ने भी बलात् सहयोग की संभावना को माना है।

> सिर्फ विभिन्न दलों को ही सहयोग से फ़ायदा नहीं है; उनके व्यक्तिगत क्रियाकलापों को भी प्रत्यक्ष सहयोग के रूप में लेना होगा, छोटे-मोटे संघर्षों के विद्यमान होने पर भी ... यद्यपि 'सामाजिक तकनीकी' के चुनाव में हितों का संजीदा संघर्ष हो सकता है, पारिवारिक संगठनों की प्रकृति के लिए यह आवश्यक है कि इन संघर्षों को आपसी सहयोग द्वारा निबटाया जाए, साथ ही संघर्ष को विचलित व्यवहार के रूप में देखा जाए।

चूँकि संघर्षों को प्रत्यक्ष रूप से संप्रेषित नहीं किया जाता अत: यह देखा गया है कि मध्यवर्ग तथा अधीनस्थ वर्ग, चाहे घर में महिलाएँ हों या कृषक समाज में किसान, संघर्षों में समायोजन तथा सहयोग पाने के लिए व्यक्ति एवं समूह विभिन्न प्रकार की रणनीति बनाते हैं। अनेक समाजशास्त्रीय अध्ययन अप्रत्यक्ष संघर्ष तथा प्रत्यक्ष सहयोग को दिखाते हैं जो सामान्य हैं। नीचे दिया गया उद्धरण घर में महिलाओं के व्यवहार तथा अंत:क्रिया पर किए गए कई अध्ययनों से लिया गया है।

> भौतिक दवाब तथा प्रेरणा का सहयोग तथा उससे बढ़कर वितरण तथा वितरण प्रक्रिया में प्रत्यक्ष संघर्ष के बहुत कम साक्ष्य हैं। इसके बदले निर्णय लेने, आवश्यकताएँ तथा प्राथमिकताएँ (आयु, लिंग तथा जीवन चक्र) सोपानिक हैं, ऐसे सोपान जिसका स्त्री तथा पुरुष दोनों समर्थन करते हैं। अत: स्त्रियाँ अनेक विशेषताओं को सतत रूप से अर्जित करती हुई दिखाई देती हैं– घरेलू वस्तुओं के वितरण में विभेदीकृत कार्य, अपने आने वाले समय में सुरक्षा के लिए अन्य घरेलू संबंधों तथा संसाधनों तक पहुँच न मिलने के कारण, यह उनके भौतिक हित में होता है कि वे बेटे को मान्यता दें, जो इस संस्कार की महत्त्वपूर्ण विशेषता है, तथा अपने अनियमित भविष्य के बीमा के लिए अपने बेटों को सहयोगी रूप में जीतने के लिए, उनके लिए 'स्वार्थरहित' समर्पण ही उनका निवेश होता है। 'मातृ परहितवादिता', उत्तरी भारत के मैदानों में, बेटों को लेकर पूर्वाग्रहित है तथा इसे स्त्री के पितृसत्तात्मक जोखिम के प्रत्युत्तर के रूप में देखा जा सकता है। स्त्री पूरी तरह से शक्तिहीन नहीं है, परंतु, पुरुष के निर्णय लेने की ताकत के समक्ष वह अप्रत्यक्ष ही रहती है। विश्वसनीय दोस्तों का उपयोग (रिश्तेदार या पड़ोसी) अपनी तरफ़ से छोटे-मोटे व्यापार करने में, पैसों का छुपकर लेन-देन, परदा तथा मातृत्व जैसी लैंगिक विचारधारा पर बातचीत करना वे रणनीतियाँ हैं जिनके आधार पर स्त्रियों ने पुरुष की शक्ति का प्रतिरोध किया है (अब्दुल्ला तथा जीडेंस्टीन, 1982; वाईट 1992)। उनके प्रतिरोध का यह गोपनीय रूप घर के बाहर सहयोग के विकल्पों की कमी तथा खुले संघर्ष से जुड़े सहवर्ती ज़ोखिमों को दिखाता है (कबीर 1996:129)।

समाजशास्त्रीय प्रश्नात्मक परंपरा को ध्यान में रखते हुए मान लिए जाने वाले तथ्यों पर इस अध्याय में परीक्षण किए गए तथा इस पाठ में सहयोग, प्रतिस्पर्धा तथा संघर्ष की प्रक्रियाओं की आलोचनात्मक रूप से जाँच की गई। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से ये प्रक्रियाएँ 'स्वाभाविक' नहीं मानी जातीं। यह उन्हें आगे अन्य सामाजिक विकास से जोड़ता है। नीचे दिए गए अनुच्छेद में आप भूमि संबंधों तथा भारत के भूदान–ग्रामदान आंदोलन के विषय में पढ़ेंगे। बॉक्स को पढ़िए और देखिए कि समाज में सहयोग किस प्रकार समाजशास्त्रीय रूप में तकनीक तथा उत्पादन की आर्थिक व्यवस्था से जुड़ा है।

क्रियाकलाप 10

नीचे दिए गए भूमि संघर्ष से संबंधित विवरण को ध्यानपूर्वक पढ़िए। इसके विभिन्न सामाजिक वर्गों को पहचानिए तथा शक्ति तथा संसाधनों की भूमिका पर ध्यान दीजिए।

उपसंहार

इस पाठ का मुख्य उद्देश्य एक ओर सामाजिक तथा स्तरीकरण के संबंधों को समझना है तो दूसरी ओर सामाजिक प्रक्रिया के रूप में सहयोग, प्रतिस्पर्धा तथा संघर्ष को। आपने देखा होगा कि तीनों सामाजिक प्रक्रियाएँ भिन्न हैं; लेकिन अधिकांशत: वे एक साथ मौजूद होती हैं; तथा एक दूसरे से कभी छिपे और कभी खुले रूप में संबद्ध और विद्यमान होती हैं; जैसा कि बलात् सहयोग के संदर्भ में हुई चर्चा से पता चलता है।

भूमि संघर्ष

सन् 1956 में हरबक्श, एक राजपूत ने नत्थू अहीर (पटेल) से सौ रुपए अपने दो एकड़ ज़मीन को गिरवी (अनौपचारिक) रख कर्ज़ लिया। उसी वर्ष हरबक्श की मृत्यु हो गई और उसके उत्तराधिकारी गनपत ने सन् 1958 में ज़मीन को वापस लेने का दावा किया। इसके लिए उसने दो सौ रुपए देने की पेशकश की। नत्थू ने गनपत को ज़मीन वापस करने से मना कर दिया। गनपत इसके लिए कानूनी कार्रवाई का सहारा नहीं ले सका क्योंकि यह लेन-देन आय-व्यय रिकॉर्ड में कहीं दर्ज़ नहीं था। इन परिस्थितियों के अधीन गनपत ने हिंसा का सहारा ले सन् 1959 (ग्रामदान के एक वर्ष पश्चात्) में ज़बरन भूमि पर अधिकार कर लिया। गनपत, चूँकि स्वयं एक पुलिस कांस्टेबल था, अत: इस मामले में उसने अफसरों पर काफी प्रभाव डाला। जब पटेल फुलेरा गया (पुलिस थाना हेडक्वार्टर) तो उसे पुलिस स्टेशन ले जाया गया और ज़बरन उसे इस बात पर राज़ी किया गया कि वह ज़मीन गनपत को वापिस लौटा देगा। इसके पश्चात् ग्रामवासियों की एक सभा बुलाई गई तब पटेल को पैसा दिया गया और गणपत को अपनी ज़मीन वापिस मिली।

स्रोत: ओम्मेन, टी.के., 1972 : *करिश्मा, स्टेबिलिटी एण्ड चेंज–एन एनालिसिस ऑफ भूदान–ग्राम दान मूवमेंट इन इंडिया,* पेज-88., थॉमसन प्रेस, नयी दिल्ली।

तकनीक के विस्तार ने भी सहयोग की आवश्यकता को कम किया है। उदाहरण के लिए, चरस चलाने के लिए (कुओं से सिंचाई करने वाली एक घरेलू विद्या), दो जोड़ी बैल तथा चार व्यक्तियों की आवश्यकता होती है। एक साधारण किसान चार बैलों का खर्च नहीं उठा सकता अथवा एक औसत घर में शायद ज़रूरत जितने आदमी न हों। ऐसी स्थिति में वे बैल तथा आदमी दूसरे घरों (रिश्तेदार, पड़ोसी, दोस्त आदि) से मंगवाते हैं। वैसी ही सेवाओं को देने के बदले में। परंतु यदि चरस को रहट (पर्शियन व्हील) से बदल दिया जाए तो रहट, जिस पर भारी पूँजी निवेश की आवश्यकता पड़ती है, तब मात्र एक जोड़ी बैल तथा एक व्यक्ति की आवश्यकता इसे चलाने में पड़ती है। सिंचाई के संदर्भ में सहयोग की आवश्यकता को, भारी पूँजी निवेश तथा सक्षम तकनीक के कारण कम कर दिया। अतः किसी प्रणाली में तकनीकी स्तर व्यक्तियों तथा समूहों के बीच सहयोग की आवश्यकता को निर्धारित करता है। (ओम्मेन 1972:88)

स्त्रोतः ओम्मेन, टी.के., 1972 : *करिश्मा, स्टेबिलिटी एण्ड चेंज–एन एनालिसिस ऑफ भूदान–ग्राम दान मूवमेंट इन इंडिया,* पेज–88., थॉमसन प्रेस, नयी दिल्ली।

शब्दावली

परहितवाद–सिद्धांततः बिना किसी लाभ के दूसरों के हित के लिए काम करना।

अलगाव–मार्क्स ने इस अवधारणा का प्रयोग मज़दूरों का अपने श्रम तथा श्रम उत्पाद पर किसी प्रकार के अधिकार न होने के संदर्भ में किया है। इससे मजदूरों की कार्य के प्रति रुचि समाप्त होने लगती है।

प्रतिमानहीनता–दुर्खाइम के लिए, सामाजिक स्थिति जहाँ व्यवहार को पथप्रदर्शित करने वाले मानदंड नष्ट हो जाते हैं; व्यक्ति बिना सामाजिक बाध्यता अथवा पथप्रदर्शन के रह जाता है। एक नियमहीनता की स्थिति।

पूँजीवाद–वह आर्थिक प्रणाली, जहाँ उत्पादन के साधन पर निजी अधिकार होता है तथा जिसका प्रयोग बाज़ार व्यवस्था में लाभ कमाना है, जहाँ श्रम मजदूरों द्वारा किया जाता है।

श्रम विभाजन–कार्य का विशिष्टीकरण, जिसके माध्यम से विभिन्न रोज़गार उत्पादन प्रणाली से जुड़े होते हैं। प्रत्येक समाज में किसी न किसी रूप में श्रम विभाजन होता है विशेषकर पुरुषों को दिए गए कार्य तथा महिलाओं द्वारा किए गए कार्य। औद्योगीकरण के विकास के साथ श्रम विभाजन और जटिल हो गया, अन्य किसी भी प्रकार के उत्पादन की तुलना में। आधुनिक विश्व में श्रम विभाजन का क्षेत्र अंतरराष्ट्रीय हो गया है।

प्रभुत्वशाली विचारधारा–विचार तथा मान्यताएँ जो प्रभुत्वशाली समूहों के हितों की रक्षा करते हैं। ऐसी विचारधारा प्रत्येक समाज में पाई जाती है जहाँ विभिन्न वर्गों में असमानताएँ हों। विचारधारा की संकल्पना शक्ति से जुड़ती है, चूँकि वैचारिक प्रणाली भिन्न शक्तियों को वैध बनाती है जो विभिन्न समूहों में सन्निहित होते हैं।

व्यक्तिवाद–वह सिद्धांत अथवा चिंतन जो समूह के स्थान पर व्यक्तियों की स्वायत्तता को महत्त्व देता है।

मुक्त व्यापार/उदारवाद–वह राजनैतिक तथा आर्थिक नज़रिया, जो इस सिद्धांत पर आधारित है कि सरकार द्वारा अर्थव्यवस्था में अहस्तक्षेपीय नीति अपनाई जाए तथा बाज़ार एवं संपत्ति मालिकों को पूरी छूट दे दी जाए।

यांत्रिक एकता–दुर्खाइम के अनुसार, परंपरागत संस्कृति में सरल श्रम विभाजन इसकी विशेषता है। चूँकि समाज के अधिकतर सदस्य एक जैसे कार्यों में लगे रहते हैं अत: वे एक-दूसरे के साथ सामान्यत: समान प्रकार के अनुभव तथा मान्यताओं से बँधे होते हैं।

आधुनिकता–18वीं तथा 19वीं शताब्दी की सामाजिक प्रक्रिया जो विशिष्टता, जटिलता तथा गत्यात्मकता के गुणों के कारण प्रसिद्ध हुई और जो वास्तव में परंपरागत जीवन से अलग थी।

सावयवी एकता–दुर्खाइम के अनुसार, एकता के अंतर्गत समाज व्यक्ति की आर्थिक निर्भरता तथा दूसरों के कार्यों की महत्ता से बँधा होता है। चूँकि यहाँ श्रम-विभाजन अत्यंत जटिल होता है अत: लोग एक-दूसरे पर अधिक से अधिक आश्रित होते हैं क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति को वह उत्पाद चाहिए जिसका उत्पादन दूसरे व्यक्ति करते हैं। आर्थिक बदलाव तथा अंतर्निर्भरता के सहसंबंध इस प्रकार की स्थिति में सामाजिक एकमतता बनाने में मदद करते हैं।

सामाजिक बाध्यता–हम जिस समूह अथवा समाज के भाग होते हैं वे हमारे व्यवहार पर प्रभाव छोड़ते हैं। दुर्खाइम के अनुसार सामाजिक बाध्यता सामाजिक तथ्य का एक विशिष्ट लक्षण है।

संरचना–मुख्य रूप से किसी संगठन की बनावट एवं प्रतिमान (पैटर्न) को इंगित करना है, जो कुछ हद तक मानव व्यवहार को निर्देशित या बाध्य करता है।

अभ्यास

1. कृषि तथा उद्योग के संदर्भ में सहयोग के विभिन्न कार्यों की आवश्यकता की चर्चा कीजिए।
2. क्या सहयोग हमेशा स्वैच्छिक अथवा बलात् होता है? यदि बलात् है, तो क्या मंजूरी प्राप्त होती है अथवा मानदंडों की शक्ति के कारण सहयोग करना पड़ता है? उदाहरण सहित चर्चा करें।
3. क्या आप भारतीय समाज से संघर्ष के विभिन्न उदाहरण ढूँढ़ सकते हैं? प्रत्येक उदाहरण में वे कौन से कारण थे जिसने संघर्ष को जन्म दिया? चर्चा कीजिए।

4. संघर्ष को किस प्रकार कम किया जाता है इस विषय पर उदाहरण सहित निबंध लिखिए।
5. ऐसे समाज की कल्पना कीजिए जहाँ कोई प्रतिस्पर्धा नहीं है, क्या यह संभव है? अगर नहीं तो क्यों?
6. अपने माता–पिता, बड़े–बुजुर्गों तथा उनके समकालीन व्यक्तियों से चर्चा कीजिए कि क्या आधुनिक समाज सही मायनों में प्रतिस्पर्धा है अथवा पहले की अपेक्षा संघर्षों से भरा है और अगर आपको ऐसा लगता है तो आप समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में इसे कैसे समझाएँगे?

संदर्भ

अब्दुल्लाह, टी. तथा एस. जीडेंस्टीन, 1982. *विलेज मेन ऑफ़ बांग्लादेश:प्रॉस्पेक्टस फ़ॉर चेंज.* परगामॉन प्रेस, ऑक्सफोर्ड।

बॉटोमोर, टी.बी., 1975. *सोशयोलॉजी एज़ सोशल क्रिटीसीज़्म.* जॉर्ज एलेन एण्ड अनविन लि., लंदन।

दुर्खाइम एमिल, 1933. द *डिवीज़न ऑफ़ लेबर इन सोसायटी.* ए फ्री प्रेस (पेपरबैक), द मैकमिलन कंपनी, न्यूयार्क।

जयराम, एन., 1987. *इंट्रोडक्टरी सोशयोलॉजी.* मैकमिलन इंडिया लि., दिल्ली।

हेल सिल्विया, एम. 1990. *कॉन्ट्रोवर्सिस इन सोशयोलॉजी:ए कनेडियन इंट्रोडक्शन,* लोंगमैन ग्रुप्स, लंदन।

मार्क्स कार्ल तथा फ्रेडरिक ऐंजेल्स. 1974. द *जर्मन आइडियोलॉजी,* सिलेक्टेड वर्क्स, भाग–1, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, मास्को।

सेन, अमर्त्य, 1990. 'जेंडर एण्ड कोऑपरेटिव कॉनफ्लिक्ट्स' इन *परसिस्टेन्ट इनइक्विेलिटीज़* (संपा.), II, टिंकर, पी.पी. 123–49, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफोर्ड।

सिंह, योगेंद्र, 1973. *मॉडर्नाइजेशन ऑफ इंडियन ट्रेडिशन.* थॉमसन प्रेस, नयी दिल्ली।

श्रीनिवास, एम. एन., 1972. *सोशल चेंज इन मॉडर्न इंडिया.* ओरियंट लोंगमैन, नयी दिल्ली।

ओम्मेन, टी. के., 1972. *करिश्मा, स्टेबिलीटी एण्ड चेंज:एन ऐनालिसीस ऑफ़ भूदान–ग्रामदान मूवमेंट इन इंडिया.* थॉमसन प्रेस, नयी दिल्ली।

वाईट, एस. सी., 1992. *आरग्यूइंग विद द क्रोकोडाइल, जेंडर, एण्ड क्लास इन बांग्लादेश.* जेड बुक्स, लंदन।

अध्याय 2

ग्रामीण तथा नगरीय समाज में सामाजिक परिवर्तन तथा सामाजिक व्यवस्था

ऐसा अकसर कहा जाता है कि परिवर्तन ही समाज का अपिरवर्तनीय पक्ष है। आधुनिक समाज में रहने वाले किसी भी व्यक्ति को यह याद दिलाने की आवश्यकता नहीं होती कि परिवर्तन हमारे समाज की एक विशिष्ट पहचान है। वास्तव में, समाजशास्त्र का एक विषय के रूप में उद्भव, सत्रहवीं से उन्नीसवीं सदी के मध्य पश्चिमी यूरोपीय समाज में तीव्र गति से बदलते परिवेश को समझने के प्रयास में हुआ।

सामाजिक परिवर्तन आधुनिक जीवन का एक आम तथा चिर–परिचित सत्य है। तुलनात्मक दृष्टिकोण से भी यह एक सर्वथा नवीन तथा हाल की सच्चाई है। यह अनुमान लगाया जाता है कि मानव जाति का पृथ्वी पर अस्तित्व तकरीबन 5,00,000 (पाँच लाख) वर्षों से है, परंतु उनकी सभ्यता का अस्तित्व मात्र 6,000 वर्षों से ही माना जाता रहा है। इन सभ्य माने जाने वाले वर्षों में, पिछले मात्र 400 वर्षों से ही हमने लगातार एवं तीव्र परिवर्तन देखे हैं। इन परिवर्तनशील वर्षों में भी, इसके परिवर्तन में तेज़ी मात्र पिछले 100 वर्षों में आई है। जिस गति से परिवर्तन होता है, वह चूँकि लगातार बढ़ता रहता है, शायद यह सही है कि पिछले सौ वर्षों में, सबसे अधिक परिवर्तन प्रथम पचास वर्षों की तुलना में अंतिम पचास वर्षों में हुए और आखिरी पचास वर्षों के अंतर्गत, पहले तीस वर्षों की तुलना में विश्व में परिवर्तन अंतिम बीस वर्षों में अधिक आया...

मनुष्य के इतिहास का परिवर्तित चक्र

पृथ्वी पर मनुष्य का अस्तित्व पचास लाख वर्षों से है। स्थायी जीवन की बुनियादी आवश्यकता कृषि, मात्र बारह हज़ार वर्ष प्राचीन है। सभ्यता छह हज़ार वर्षों से अधिक प्राचीन नहीं है। यदि हम मनुष्य के संपूर्ण अस्तित्व को एक दिन मान लें (अर्द्धरात्रि से अर्द्धरात्रि तक) तो कृषि 11:56 मिनट तथा सभ्यता 11:57 मिनट पर अस्तित्व में आई। आधुनिक समाजों का विकास 11:59 तथा 30 सेकंड में हुआ। मनुष्य के दिन के अंतिम 30 सेकंड में जितना परिवर्तन हुआ है, वह अब तक के पूरे समय के योग के बराबर है।

स्रोत : एन्थनी गिडेन्स, 2004, *सोशयोलॉजी*, चौथा संस्करण, पृ. 40

© NCERT not to be republished

क्रियाकलाप 1

अपने बड़ों से बात कीजिए तथा अपने जीवन से संबंधित चीज़ों के बारे में सूची बनाइए जो–

(क) उस समय नहीं थीं, जब आपके माता–पिता आपकी उम्र के थे।

(ख) तब अस्तित्व में नहीं थीं, जब आपके नाना–नानी/दादा–दादी आपकी उम्र के थे।

उदाहरण–श्याम–श्वेत/रंगीन टी.वी.; प्लास्टिक की थैली में दूध; कपड़ों में ज़िप का प्रयोग; ये प्लास्टिक की बाल्टी इत्यादि थे। क्या आपके माता–पिता के बचपन में भी अथवा उनके माता–पिता के बचपन में?

क्या आप ऐसी चीज़ों की सूची बना सकते हैं, जो आपके माता–पिता/उनके माता–पिता के समय में थीं परंतु अब नहीं हैं?

सामाजिक परिवर्तन

'सामाजिक परिवर्तन' एक सामान्य अवधारणा है जिसका प्रयोग किसी भी परिवर्तन के लिए किया जा सकता है, जो अन्य अवधारणा द्वारा परिभाषित नहीं किया जा सकता, जैसे आर्थिक अथवा राजनैतिक परिवर्तन। समाजशास्त्रियों को इसके व्यापक अर्थ को विशिष्ट बनाने के लिए कठिन परिश्रम करना पड़ा। ताकि यह सामाजिक सिद्धांत के लिए महत्त्वपूर्ण हो सके। अपने बुनियादी स्तर पर, सामाजिक परिवर्तन इंगित करता है, उन परिवर्तनों को जो महत्त्वपूर्ण हैं–अर्थात, परिवर्तन जो 'किसी वस्तु अथवा परिस्थिति की मूलाधार संरचना को समयावधि में बदल दें।' (गिडेन्स 2005:42)

अत: सामाजिक परिवर्तन कुछ अथवा सभी परिवर्तनों को सम्मिलित नहीं करते, मात्र बड़े परिवर्तन जो, वस्तुओं को बुनियादी तौर पर बदल देते हैं। परिवर्तन का 'बड़ा' होना मात्र इस बात से नहीं मापा जाता कि वह कितना परिवर्तन लाता है, बल्कि परिवर्तन के पैमाने से, अर्थात समाज के कितने बड़े भाग को उसने प्रभावित किया है। दूसरे शब्दों में, परिवर्तन दोनों, सीमित तथा विस्तृत तथा समाज के एक बड़े हिस्से को प्रभावित करने वाला होना चाहिए ताकि वह सामाजिक परिवर्तन के योग्य हो सके।

इस प्रकार के मापदंडों के बावजूद सामाजिक परिवर्तन एक विस्तृत शब्द है। इसे और विशेष बनाने के लिए स्रोतों अथवा कारकों को अधिकतर वर्गीकृत करने की कोशिश की जाती है। प्राकृतिक आधार पर अथवा समाज पर इसके प्रभाव अथवा इसकी गति के आधार पर इसका वर्गीकरण किया जाता है। उदाहरण के लिए, ऐसे परिवर्तन को 'उद्विकास' का नाम दिया गया है जो काफ़ी लंबे समय तक धीरे–धीरे होता है। यह शब्द, प्राणीशास्त्री चार्ल्स डार्विन द्वारा दिया गया। जिन्होंने उद्विकासीय सिद्धांत के द्वारा यह प्रतिपादित किया कि कैसे जीवित प्राणी विकसित होते हैं। कई शताब्दियों अथवा कभी–कभी सहस्राब्दियों में धीरे–धीरे अपने आपको प्राकृतिक वातावरण में ढाल कर बदलते रहते हैं। डार्विन के सिद्धांत ने 'योग्यतम की उत्तरजीविता' के विचार पर बल दिया–केवल वही जीवधारी जीवित रहने में सफल होते हैं जो अपने पर्यावरण के अनुरूप अपने आपको ढाल लेते हैं, जो अपने आपको ढालने में सक्षम नहीं होते अथवा ऐसा धीमी गति से करते हैं, लंबे समय में नष्ट हो जाते हैं। डार्विन ने यह सुझाया कि मनुष्य की उत्पत्ति समुद्री जीवों (अथवा

मछलियों के विभिन्न प्रकारों) से भूमि पर रहने वाले स्तनपायी, उससे विभिन्न अवस्थाओं को पार करते हुए उच्चतम अवस्था जहाँ बंदरों तथा गोरिल्लों के विभिन्न प्रकार से अंत में होमो सैपियंस अथवा मनुष्य के रूप में उसकी उत्पत्ति हुई।

यद्यपि डार्विन का सिद्धांत प्राकृतिक प्रक्रियाओं को दिखाता है, इसे शीघ्र सामाजिक विश्व में स्वीकृत किया गया जिसे 'सोशल डार्विनिज़्म' के नाम से जाना गया, ऐसा सिद्धांत जिसने अनुकूली परिवर्तन की महत्ता पर बल दिया। उद्‌विकासीय परिवर्तन के विपरीत, परिवर्तन जो तुलनात्मक रूप से शीघ्र अथवा अचानक होता है, कभी-कभी उसे 'क्रांतिकारी परिवर्तन' कहते हैं। इसका प्रयोग मुख्यत: राजनीतिक संदर्भ में होता है, जहाँ समाज में शक्ति की संरचना में शीघ्रतापूर्वक परिवर्तन लाकर इसे चुनौती देने वालों द्वारा पूर्व सत्ता वर्ग को विस्थापित कर लाया जाता है। इसके उदाहरण हैं फ्रांसिसी क्रांति (1789-93) अथवा सोवियत या 1917 की रूसी क्रांति। सामान्य रूप से इस शब्द का प्रयोग तेज़, आकस्मिक तथा अन्य प्रकार के संपूर्ण परिवर्तनों के लिए भी, कुछ शब्द जैसे 'औद्योगिक क्रांति' अथवा 'संचार क्रांति' इत्यादि के लिए होता है।

क्रियाकलाप 2

फ्रांसिसी क्रांति अथवा औद्योगिक क्रांति जिसके बारे में आपने अपनी पाठ्यपुस्तकों में पढ़ा है, परिचर्चा को देखिए। इनमें से प्रत्येक किस प्रकार के परिवर्तन लेकर आया? क्या ये परिवर्तन इतने तीव्र अथवा इतने दूरगामी थे कि 'क्रांतिकारी परिवर्तन' के योग्य हो सकें? अन्य किस प्रकार के सामाजिक परिवर्तनों के बारे में आपने अपनी पुस्तक में पढ़ा है, जो क्रांतिकारी परिवर्तन के योग्य नहीं है? वे क्यों योग्य नहीं हैं?

विभिन्न प्रकार के परिवर्तन जो अपनी प्रकृति अथवा परिणाम द्वारा पहचाने जाते हैं वे हैं, संरचनात्मक परिवर्तन एवं विचारों, मूल्यों तथा मान्यताओं में परिवर्तन। संरचनात्मक परिवर्तन समाज की संरचना में परिवर्तन को दिखाता है, इसकी संस्थाओं अथवा नियमों जिनसे इन संस्थाओं को चलाया जाता है (पूर्व अध्याय के सामाजिक संरचना पर हुई परिचर्चा को देखें) उदाहरण के लिए, कागज़ी रुपए का मुद्रा के रूप में प्रादुर्भाव वित्तीय संस्थानों तथा लेन-देन में बड़ा भारी परिवर्तन लेकर आया। इस परिवर्तन के पहले, मुख्य रूप से सोने-चाँदी के रूप में मूल्यवान धातुओं का प्रयोग मुद्रा के रूप में होता था। सिक्के की कीमत उसमें पाए जाने वाले सोने अथवा चाँदी से मापी जाती थी। इसके विपरीत, कागज़ी नोट की कीमत का उस कागज से कोई संबंध नहीं होता था जिस पर वह छापा जाता था और न ही उसकी छपाई से। कागज़ी मुद्रा के पीछे यह विचार था कि सामान अथवा सुविधाओं के लेन-देन में जिस चीज़ का प्रयोग हो, उसका कीमती होना ज़रूरी नहीं। जब तक यह मूल्य को ठीक से दिखाता है अर्थात जब तक यह विश्वास को जगाए रखता है—तकरीबन कोई भी चीज़ पैसे के रूप में काम कर सकती है। यह विचार ऋण बाज़ार की बुनियाद बना जिसने बैंकिंग तथा वित्त के ढाँचे को बदलने में मदद

की। इन परिवर्तनों ने आगे चलकर आर्थिक जीवन में और परिवर्तन किए।

मूल्यों तथा मान्यताओं में परिवर्तन भी सामाजिक परिवर्तन ला सकते हैं। उदाहरण के लिए, बच्चों तथा बचपन से संबंधित विचारों तथा मान्यताओं में परिवर्तन अत्यंत महत्त्वपूर्ण प्रकार के सामाजिक परिवर्तन में सहायक सिद्ध हुआ है। एक समय था जब बच्चों को साधारणत: 'अवयस्क' समझा जाता था—बचपन से संबंधित कोई विशिष्ट संकल्पना नहीं थी। जो इससे जुड़ी हो कि बच्चों के लिए क्या सही था अथवा क्या गलत। उदाहरण के लिए, उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में, यह ठीक माना जाने लगा कि बच्चे जितनी जल्दी काम करने के योग्य हो जाएँ, काम पर लग जाएँ। बच्चे अपने परिवारों की काम करने में मदद पाँच अथवा छह वर्ष की आयु से ही प्रारंभ कर देते थे; प्रारंभिक फैक्ट्री व्यवस्था बच्चों के श्रम पर आश्रित थी। यह उन्नीसवीं तथा पूर्व बीसवीं शताब्दियों के दौरान बचपन जीवन की एक विशिष्ट अवस्था है—यह संकल्पना प्रभावी हुई। तब छोटे बच्चों का काम करना अविचारणीय हो गया तथा अनेक देशों ने बाल श्रम को कानून द्वारा बंद कर दिया। उसी समय, अनिवार्य शिक्षा संबंधी विचारों का जन्म हुआ, तथा इससे संबंधित कई कानून भी पास किए गए। यद्यपि कुछ ऐसे उद्योग हमारे देश में हैं, जो आज भी बाल श्रम पर कम से कम आंशिक रूप से आश्रित हैं (जैसे—दरी बुनना,

कक्षा में विद्यार्थी

© NCERT not to be republished

व्यवसायिक प्रशिक्षण प्रयोगशाला में विद्यार्थी

Source: https//www.msde.gov.in/sites/default/files/2019-09/National%20Skill%20Development %20Mission.pdf

छोटी चाय की दुकानें तथा रेस्तराँ, माचिस बनाना इत्यादि)। बाल श्रम गैर कानूनी है तथा मालिकों को मुजरिमों के रूप में सजा हो सकती है।

परंतु अब तक सामाजिक परिवर्तन के वर्गीकरण का सबसे सरल तरीका इसके कारक तत्व तथा स्रोत हैं। कई बार कारक तत्व पूर्ववर्गीकृत होते हैं—आंतरिक (अंतर्जात) और बाहरी (बहिर्जात)। सामाजिक परिवर्तन के पाँच बृहत प्रकार के स्रोत अथवा कारण हैं—पर्यावरण, तकनीकी, आर्थिक, राजनैतिक तथा सांस्कृतिक।

पर्यावरण

प्रकृति, पारिस्थितिकी तथा भौतिक पर्यावरण का समाज की संरचना तथा स्वरूप पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव हमेशा से रहा है। विगत समय के संदर्भ में यह विशेष रूप से सही है, जब मनुष्य प्रकृति के प्रभावों को रोकने अथवा झेलने में अक्षम था। उदाहरण के लिए, मरुस्थलीय वातावरण में रहने वाले लोगों के लिए एक स्थान पर रहकर कृषि करना संभव नहीं था, जैसे मैदानी भागों अथवा नदियों के किनारे इत्यादि। अत: जिस प्रकार का भोजन वे करते थे अथवा कपड़े पहनते थे, जिस प्रकार आजीविका चलाते थे तथा सामाजिक अन्त:क्रिया ये सब काफ़ी हद तक उनके पर्यावरण के भौतिक तथा जलवायु की स्थितियों से निर्धारित होता है। अत्यधिक ठंडी जलवायु में रहने वालों के लिए भी यह सही था, अथवा बंदरगाह पर स्थित नगरों, प्रमुख व्यापारिक मार्गों

भयंकर बाढ़ से भूमि के अंदर बनी गुफा

अथवा पर्वतीय दर्रों अथवा उपजाऊ नदी घाटियाँ। परंतु पर्यावरण जिस हद तक समाज को प्रभावित करता है, वह तकनीकी संसाधनों के बढ़ने के कारण, समय के साथ साथ घटता जा रहा है। प्रकृति द्वारा खड़ी की गई समस्याओं का सामना और अपने आपको उनके अनुरूप ढालना और इस प्रकार भिन्न पर्यावरण के कारण समाजों के बीच आए अंतर को दूर करने में तकनीक हमारी मदद करती है। दूसरी तरफ़, तकनीक प्रकृति को तथा इसके साथ हमारे संबंधों को नए तरीकों से बदलती है (पर्यावरण पर इस पुस्तक में दिए गए अध्याय को देखिए)। अतः यह कहना अधिक सही होगा कि समाज पर प्रकृति का प्रभाव घटने की बजाए बदल रहा है।

आप पूछ सकते हैं कि कैसे यह सामाजिक परिवर्तन को प्रभावित करते हैं? पर्यावरण ने समूहों को आकार दिया होगा, परंतु इसने सामाजिक परिवर्तन में क्या भूमिका अदा की होगी? इस प्रश्न का सबसे आसान तथा बढ़िया उत्तर प्राकृतिक विपदाओं में मिलेगा। त्वरित तथा विध्वंसकारी घटनाएँ; जैसे—भूकंप, ज्वालामुखी विस्फोट, बाढ़ अथवा ज्वारभाटीय तरंगें (जैसा दिसंबर 2004 में सुनामी की तरंगों से इंडोनेशिया, श्रीलंका, अंडमान द्वीप, तमिलनाडु के कुछ भाग इसकी चपेट में आए) समाज को पूर्णरूपेण बदलकर रख देते हैं। ये बदलाव अपरिवर्तनीय होते हैं, अर्थात, ये स्थायी होते हैं तथा चीज़ों को वापस अपनी पूर्वस्थिति में नहीं आने देते। उदाहरण के लिए, यह संभव हो सकता है कि उनमें से कई लोग जिनका व्यवसाय सुनामी के कारण नष्ट हो गया वे उसे पुनः नहीं पा सकेंगे तथा अधिकांश तटीय गाँवों में सामाजिक संरचना पूर्णतः बदल जाएगी। प्राकृतिक विपदाओं के अनेकानेक उदाहरण इतिहास में देखने को मिल जाएँगे, जो समाज को पूर्णरूपेण

परिवर्तित कर देते हैं अथवा पूर्णत: नष्ट कर देते हैं। इसका एक उत्कृष्ट उदाहरण पश्चिमी एशिया (अथवा खाड़ी देश) के रेगिस्तानी प्रदेशों में तेल का मिलना है। जिस प्रकार 19वीं शताब्दी में कैलिफोर्निया में सोने की खोज हुई थी, ठीक उसी प्रकार तेल के भंडारों ने खाड़ी देशों के समाज को बदल कर रख दिया। सउदी अरब, कुवैत अथवा संयुक्त अरब अमीरात जैसे देशों की स्थिति आज तेल संपदा के बिना बिलकुल अलग होती।

तकनीक तथा अर्थव्यवस्था

विशेषकर आधुनिक काल में, तकनीक तथा आर्थिक परिवर्तन के संयोग से समाज में तीव्र परिवर्तन आया है। तकनीक समाज को कई प्रकार से प्रभावित करती है। जैसा कि ऊपर देखा गया है, यह हमारी मदद, प्रकृति को विभिन्न तरीकों से नियंत्रित, उसके अनुरूप ढालने में अथवा दोहन करने में करती है। बाज़ार जैसी शक्तिशाली संस्था से जुड़कर तकनीकी परिवर्तन अपने सामाजिक प्रभाव की तरह ही प्राकृतिक कारकों; जैसे—सुनामी अथवा तेल की खोज की तरह प्रभावी हो सकते हैं। सामाजिक परिवर्तन के बृहत, दृष्टिगोचर तथा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उदाहरण जो तकनीकी परिवर्तन द्वारा लाए गए वह था औद्योगिक क्रांति, जिसके बारे में आपने पहले पढ़ा है।

आपने वाष्प इंजन द्वारा समाज पर छोड़े गए प्रभाव के बारे में सुना होगा। वाष्प शक्ति की खोज ने, उदीयमान विभिन्न प्रकार के बड़े उद्योगों को शक्ति की उस ताकत को जो न केवल पशुओं तथा मनुष्यों के मुकाबले कई गुना अधिक थी बल्कि बिना रुकावट के लगातार चलने वाली भी थी, से परिचित कराया। इसका दोहन जब यातायात के साधनों; जैसे—वाष्पचलित जहाज़ तथा रेलगाड़ी के रूप में किया गया तो इसने दुनिया की अर्थव्यवस्था तथा सामाजिक भूगोल को बदल कर रख दिया। रेल ने उद्योग तथा व्यापार को अमेरिका महाद्वीप तथा पश्चिमी विस्तार को सक्षम किया। भारत में भी, रेल परिवहन ने अर्थव्यवस्था को आकार देने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है, विशेषकर 1853 में भारत में आने से लेकर मुख्यत: प्रथम शताब्दी तक। वाष्पचलित जहाज़ों ने समुद्री यातायात को अत्यधिक तीव्र तथा भरोसेमंद बनाया तथा इसने अंतरराष्ट्रीय व्यापार तथा प्रवास की गति को बदल कर रख दिया। दोनों परिवर्तनों ने विकास की विशाल लहर पैदा की, जिसने न केवल अर्थव्यवस्था को प्रभावित किया अपितु समाज के सामाजिक, सांस्कृतिक तथा जनसांख्यिक रूप को बदल दिया।

वाष्प शक्ति की छाप तथा महत्त्व अपेक्षाकृत तीव्र गति से दृष्टिगोचर हुआ; हालाँकि कभी-कभी तकनीक का सामाजिक प्रभाव पूर्वव्यापी भी होता है। तकनीकी आविष्कार अथवा खोज का कभी-कभी तात्कालिक प्रभाव संकुचित होता है, जो देखने पर लगता है, जैसे सुप्तावस्था में हो। बाद में होने वाले परिवर्तन आर्थिक संदर्भ में उसी खोज की सामाजिक महत्ता को एकदम बदल देते हैं तथा उसे ऐतिहासिक घटना के रूप में मान्यता देते हैं। इसका उदाहरण चीन में बारूद तथा कागज़ की खोज है, जिसका प्रभाव सदियों तक संकुचित रहा जब तक कि

उनका प्रयोग पश्चिमी यूरोप के आधुनिकीकरण के संदर्भ में नही हुआ। उसी बिंदु से दी गई परिस्थितियों का लाभ उठा, बारूद द्वारा युद्ध की तकनीक में परिवर्तन तथा कागज़ की छपाई की क्रांति ने समाज को हमेशा के लिए परिवर्तित कर दिया। दूसरा उदाहरण ब्रिटेन के कपड़ा उद्योग में होने वाले तकनीकी प्रयोग से है। बाज़ारी ताकतों तथा साम्राज्यवादी शक्तियों के मेल से नवीन सूत कातने तथा बुनने की मशीनों ने भारतीय उपमहाद्वीप में हथकरघा उद्योग को नष्ट कर दिया जो पूरी दुनिया में सबसे व्यापक तथा उच्चस्तरीय था।

क्रियाकलाप 3

क्या आपने ऐसे अन्य तकनीकी परिवर्तनों पर ध्यान दिया है, जिसका आपके सामाजिक जीवन पर प्रभाव पड़ा हो? फोटोकॉपी मशीन तथा उसके प्रभाव के बारे में सोचिए। क्या आपने कभी सोचा है कि उसके पहले जीवन कैसा होगा जब फोटोकॉपी इतनी सस्ती तथा आसानी से उपलब्ध नहीं थी। दूसरा उदाहरण एस.टी.डी. टेलीफ़ोन बूथ हो सकते हैं। यह पता कीजिए कि लोग कैसे एक-दूसरे से संपर्क रखते थे, जब कुछ ही घरों में टेलीफ़ोन की सुविधाएँ थीं। ऐसे कुछ अन्य उदाहरणों की सूची बनाइए।

कई बार आर्थिक व्यवस्था में होने वाले परिवर्तन जो प्रत्यक्षत: तकनीकी नहीं होते हैं, भी समाज को बदल सकते हैं। जाना-पहचाना ऐतिहासिक उदाहरण, रोपण कृषि—जहाँ बड़े पैमाने पर नकदी फसलों; जैसे—गन्ना, चाय अथवा कपास की खेती की जाती है, ने श्रम के लिए भारी माँग उत्पन्न की। इस माँग ने 17वीं-19वीं शताब्दी के मध्य संस्था के रूप में दासता तथा अफ्रीका, यूरोप तथा अमेरिका के बीच दासों का व्यापार प्रारंभ किया। भारत में भी असम के चाय बगानों में काम करने वाले अधिकतर लोग पूर्वी भारत के थे (विशेषकर झारखंड तथा छत्तीसगढ़ के आदिवासी भागों से), जिन्हें बाध्य हो श्रम के लिए प्रवास करना पड़ा। आज विश्व के कई भागों में, अंतरराष्ट्रीय समझौतों तथा संस्थाओं जैसे वर्ल्ड ट्रेड ऑर्गेनाइज़ेशन द्वारा आयात कर तथा शुल्कों में लाए गए परिवर्तन, संपूर्ण उद्योग तथा रोज़गार को खत्म करने अथवा (काफ़ी कम) त्वरित उछाल या प्रगति का समय कुछ अन्य उद्योगों तथा रोज़गारों के लिए ला सकते हैं।

राजनीति

इतिहास के लेखन तथा संस्मरण की पुरानी विधियों में, राजाओं तथा रानियों की क्रियाएँ सामाजिक परिवर्तन के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण मानी जाती थीं। परंतु जैसा कि अब हमें पता है, राजा तथा रानियाँ विस्तृत राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक परिवर्तन का प्रतिनिधित्व करते थे। व्यक्ति समाज में अपनी भूमिका निभा सकता था, परंतु बृहतर संदर्भ में वह इसका एक भाग था। इस अर्थ में, राजनैतिक शक्तियाँ सामाजिक परिवर्तन के महत्त्वपूर्ण कारण थे। इसका सबसे स्पष्ट उदाहरण युद्धतंत्र में देखा जा सकता है। जब एक समाज दूसरे समाज पर युद्ध घोषित करता है तथा जीतता है या हार जाता है, सामाजिक परिवर्तन इसका तात्कालिक परिणाम होता था। कभी विजेता परिवर्तन के बीज अपने

© NCERT not to be republished

साथ जहाँ कहीं भी जाता है, बोता है तो कभी विजित विजेताओं के समाज को परिवर्तित करने तथा परिवर्तन के बीज बोने में सफल होता है। यद्यपि इतिहास में इस तरह के कई उदाहरण हैं, लेकिन अमेरिका तथा जापान का आधुनिक उदाहरण देखना दिलचस्प होगा।

दूसरे विश्वयुद्ध में अमेरिका ने जापान पर महत्त्वपूर्ण विजय हासिल की, आंशिक रूप से जननाशक हथियार का प्रयोग हुआ जो मानव इतिहास में पहले कभी नहीं देखा गया था और यह था परमाणु बम। जापानियों द्वारा समर्पण के बाद, अमेरिका ने जापान पर कब्ज़ा कर कई वर्षों तक उस पर शासन किया, जिससे जापान में भूमि सुधार के साथ ही साथ कई परिवर्तन आए। उस समय, जापान उद्योग की नकल करने तथा उससे सीखने की बेहद कोशिश कर रहा था। परंतु 1970 तक, हालाँकि, जापानी तकनीक, मुख्य रूप से कार निर्माण के क्षेत्र में, अमेरिका से काफ़ी आगे निकल गई थी। 1970 से 1990 के बीच, जापानी उद्योग ने पूरी दुनिया पर राज किया, विशेषतः यूरोप की औद्योगिक संस्थाओं तथा अमेरिका पर। अमेरिका की औद्योगिक पृष्ठभूमि विशेष रूप से, जापानी औद्योगिक तकनीक तथा उत्पादन संगठन से बृहद स्तर पर प्रभावित हुई। बड़े व परंपरागत रूप से शक्तिशाली उद्योगों; जैसे—स्टील, वाहन तथा भारी अभियांत्रिकी को काफ़ी बड़ा झटका लगा तथा उन्हें अपने आप को जापानी तकनीक तथा प्रबंधन के सिद्धांतों के आधार पर बदलना पड़ा। मसलन नए उभरते क्षेत्र जैसे इलेक्ट्रॉनिक्स का भी जापान ने सूत्रपात किया। कई दशकों में, जापान ने युद्धतंत्र की अपेक्षा आर्थिक तथा तकनीकी क्षेत्र में अमेरिका को चुनौती दी।

राजनैतिक परिवर्तन केवल अंतरराष्ट्रीय हो यह आवश्यक नहीं है बल्कि उनका बहुत बड़ा सामाजिक असर अपने देश पर भी पड़ा है। यद्यपि आपने इस प्रकार नहीं सोचा होगा, भारतीय स्वतंत्रता संग्राम सिर्फ़ राजनैतिक परिवर्तन, ब्रिटिश शासन के अंत के रूप में ही नहीं आया बल्कि उसने भारतीय समाज को भी निश्चित रूप से बदल डाला। इसका तात्कालिक उदाहरण 2006 में नेपाली जनता द्वारा राजवंश को पूरी तरह से नकार देना है। साधारण रूप से, राजनैतिक परिवर्तन, शक्ति के पुनः बँटवारे के रूप में विभिन्न सामाजिक समूहों तथा वर्गों के बीच सामाजिक परिवर्तन लाता है। इस दृष्टिकोण से, सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार अथवा 'एक व्यक्ति एक मत' सिद्धांत, राजनैतिक परिवर्तन के इतिहास में अकेला सर्वाधिक बड़ा परिवर्तन है। जब तक आधुनिक लोकतंत्रों ने पूर्ण रूप से व्यक्तियों को वोट का अधिकार नहीं दिया, जब तक चुनाव कानूनी शक्ति के लिए अधिदेशात्मक नहीं हो गया, समाज की संरचना भिन्न प्रकार से हुई थी। राजा तथा रानियाँ दैविक अधिकार के अंतर्गत राज करते थे तथा वे आम आदमी के प्रति जवाबदेह नहीं थे। लोकतांत्रिक सिद्धांतों के रूप में मताधिकार को जब पहली बार प्रस्तावित किया गया, तो उसमें संपूर्ण जनसंख्या को शामिल नहीं किया गया था—वास्तव में केवल एक अल्प संख्या ही वोट कर सकती थी अथवा सरकार के निर्माण में उनका हाथ था। प्रारंभ में, वोट उन्हीं तक सीमित था जिनका जन्म समाज की किसी विशिष्ट प्रजाति या नृजाति में हुआ हो

अथवा अमीर व्यक्ति जिनके पास संपत्ति हो अथवा जो इन उच्च सामाजिक वर्गों से जुड़े हों। सभी स्त्रियाँ, निम्न वर्ग के लोग अथवा अधीनस्थ नृजातियाँ तथा गरीब और कामकाजी व्यक्ति को सामान्यत: वोट देने की अनुमति नहीं थी।

यह लंबे संघर्षों से ही संभव हुआ कि सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार एक मानदंड के रूप में स्थापित हुआ। हालाँकि इसने पूर्व काल की असमानताओं को समाप्त नहीं किया। आज भी प्रत्येक देश शासन के लोकतंत्रात्मक रूप को नहीं मानते; और जहाँ कहीं भी चुनाव होते हैं, उन्हें बदलने के अनेक तरीके अपनाए जाते हैं जिसके कारण आम जनता अपनी सरकार के निर्णय को प्रभावित करने में शक्तिहीन रहती है, लेकिन इस सबके बावजूद, इसे नकारा नहीं जा सकता है कि सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार एक शक्तिशाली मानदंड के रूप में काम करता है, जो प्रत्येक सरकार तथा प्रत्येक समाज को महत्त्व देता है। सरकारों को कानूनी वैधता पाने के लिए आवश्यक है कि वह कम से कम, व्यक्तियों की आम सहमति लेता हुआ दिखाई दे। सामाजिक परिवर्तन के परिप्रेक्ष्य में यह व्यापक परिवर्तन लेकर आया है।

संस्कृति

संस्कृति को यहाँ विचारों, मूल्यों और मान्यताएँ जो मनुष्य के लिए आवश्यक होते हैं तथा उनके जीवन को आकार देने में मदद करते हैं, के छोटे से लेबल के रूप में प्रयुक्त किया गया है। इन विचारों तथा मान्यताओं में परिवर्तन प्राकृतिक रूप से सामाजिक जीवन में परिवर्तन को दिखाते हैं। सामाजिक–सांस्कृतिक संस्था का सबसे सामान्य उदाहरण धर्म है, जिसका समाज पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा। धार्मिक मान्यताएँ तथा मानदंडों ने समाज को व्यवस्थित करने में मदद दी तथा यह बिलकुल आश्चर्यजनक नहीं है कि इन मान्यताओं में परिवर्तन ने समाज को बदलने में मदद की। धर्म इतना महत्त्वपूर्ण है कि कुछ विचारकों ने सभ्यता को धार्मिक परिप्रेक्ष्य में परिभाषित किया है तथा वे इतिहास को दो धर्मों में अंत:संबंध की प्रक्रिया के रूप में देखते हैं। यद्यपि, सामाजिक परिवर्तन के अन्य महत्त्वपूर्ण कारकों में, धर्म भी संदर्भगत होता है—यह सब संदर्भों को नहीं परंतु कुछ को प्रभावित करता है। मैक्स वेबर का अध्ययन 'द प्रोटेस्टेंट एथिक एण्ड द स्पीरिट ऑफ कैपिटलिज़्म' दिखाता है कि पूँजीवादी सामाजिक प्रणाली की स्थापना में कुछ प्रोटेस्टेंट ईसाई संवर्ग ने किस प्रकार मदद की। आर्थिक तथा सामाजिक परिवर्तन के प्रभाव का यह एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण है। भारत में भी हम सामाजिक परिवर्तन के रूप में धर्म के कई उदाहरण देखते हैं। इनमें सबसे उत्कृष्ट उदाहरण प्राचीन भारत के सामाजिक तथा राजनैतिक जीवन पर बौद्ध धर्म का प्रभाव, तथा मध्यकालीन सामाजिक संरचना में अंतर्निहित जाति व्यवस्था के संदर्भ में व्यापक प्रभाव के रूप में देखा जा सकता है।

समाज में महिलाओं की स्थिति में जो सामाजिक परिवर्तन आए हैं, उसके वैचारिक उद्भव को सांस्कृतिक उदाहरण के रूप में देखा जा सकता है। आधुनिक काल में महिलाओं ने समानता के लिए संघर्ष किया है, उन्होंने समाज को कई रूपों में परिवर्तित करने में सहायता की है। ऐतिहासिक परिस्थितियाँ महिलाओं

के संघर्ष के लिए कहीं सहायक सिद्ध हुई हैं तो कहीं बाधक। उदाहरण के लिए, द्वितीय विश्वयुद्ध के समय पाश्चात्य देशों में महिलाओं ने कारखानों में काम करना प्रारंभ कर दिया जो पहले कभी नहीं हुआ था तथा जो पहले हमेशा पुरुषों द्वारा किए जाते थे। यह वास्तविकता थी कि महिलाएँ जहाज़ बना सकती थीं, भारी मशीनों को चला सकती थीं, हथियारों का निर्माण आदि कर सकती थीं, इसने समानता पाने के उनके दावे को मजबूत किया। पर यह भी सत्य है कि यदि युद्ध न हुआ होता तो उन्हें और लंबे समय तक इसके लिए संघर्ष करना पड़ता। एक दूसरे प्रकार का उदाहरण, जहाँ महिलाएँ अपनी अस्मिता में परिवर्तन लाने में सफल हुई हैं, वह क्षेत्र है उपभोक्ता विज्ञापन। अधिकतर नगरीय समाजों में, महिलाएँ ही यह निर्णय लेती हैं कि घरेलू उपयोग के लिए कौन सी वस्तुएँ खरीदी जाएँ। इसने विज्ञापनों ने एक उपभोक्ता के रूप में महिलाओं की सोच को प्रति संवदेनशील बनाया है। विज्ञापन के खर्चों का एक महत्त्वपूर्ण अंश अब महिलाओं को मिलता है और इसका प्रभाव मीडिया पर पड़ा है। संक्षेप में, महिलाएँ आर्थिक भूमिका परिवर्तन की शृंखला की शुरुआत करती है जिसके बड़े सामाजिक परिणाम निकल सकते है। उदाहरण के तौर पर, विज्ञापन महिला को एक निर्णायक सदस्य के रूप में दिखा सकता है अथवा महत्त्वपूर्ण व्यक्ति के रूप में, जिसके बारे में न तो पहले सोचा जा सकता था और न ही जिसे बढ़ावा दिया जा सकता था। सामान्यत: पहले ज़्यादातर विज्ञापन पुरुषों को संबोधित किए जाते थे, अब उतना ही महिलाओं को भी संबोधित किया जाता है अथवा कुछ क्षेत्रों में जैसे घरेलू वस्तुएँ अथवा उपभोक्ता वस्तुओं में मुख्यत: महिलाओं को। अत: यह विज्ञापकों तथा निर्माताओं के लिए आवश्यक हो गया है कि महिलाएँ क्या सोचती तथा महसूस करती हैं, उस पर ध्यान दिया जाए।

एक अन्य उदाहरण जहाँ सांस्कृतिक परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन लाता है, खेलकूद के इतिहास में देखा जा सकता है। खेलकूद हमेशा से लोकप्रिय संस्कृति की अभिव्यक्ति रहे हैं, जो कभी-कभी अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं। क्रिकेट का प्रारंभ ब्रिटिश राजशाही वर्ग के शौक के रूप में हुआ, ब्रिटेन के मध्यम तथा कामकाजी वर्गों में फैला और वहाँ से पूरी दुनिया के अंग्रेज़ी साम्राज्य में। जैसे ही इस खेल ने भारत से बाहर अपनी जड़ें जमाईं, यह अधिकतर राष्ट्रीय अथवा प्रजातीय गर्व का प्रतीक बना। क्रिकेट में तीव्र प्रतियोगिता का भिन्न इतिहास है, जो खेलकूद की सामाजिक महत्ता को कथात्मक रूप में दिखाता है। इंग्लैंड तथा ऑस्ट्रेलिया की प्रतियोगिता सामाजिक अधीनस्थ उपनिवेश (ऑस्ट्रेलिया) का शासन के केंद्र में प्रभावशाली उच्च वर्ग (इंग्लैंड) के प्रति रोष दर्शाती है। इसी प्रकार 1970 तथा 80 में पूरी दुनिया पर वेस्ट इंडीज क्रिकेट टीम का वर्चस्व भी औपनिवेशिक व्यक्तियों के प्रजातीय गर्व को दिखाता है। भारत द्वारा, क्रिकेट में इंग्लैंड को हराना हमेशा से कुछ खास रहा है, विशेषकर स्वाधीनता से पूर्व। दूसरे स्तर पर, क्रिकेट की भारतीय उपमहाद्वीप में लोकप्रियता ने इस खेल के व्यावसायिक प्रारूप को बदल दिया है जो अब दक्षिणी एशियाई प्रशंसकों की रुचियों से प्रभावित होता है, विशेषकर भारतीय।

जैसा कि ऊपरी परिचर्चा से साफ़ होता है, कोई एक सिद्धांत अथवा कारक सामाजिक परिवर्तन के लिए ज़िम्मेवार नहीं होता है। सामाजिक परिवर्तन के कारक आंतरिक अथवा बाह्य हो सकते हैं, सोची-समझी क्रिया अथवा आकस्मिक कारकों के परिणाम हो सकते हैं। सामाजिक परिवर्तन के कारक अधिकांशतः परस्पर संबंधित होते हैं। आर्थिक तथा तकनीकी कारक के सांस्कृतिक संघटक भी हो सकते हैं, राजनीति पर्यावरण द्वारा हो सकती है अतः यह आवश्यक है कि सामाजिक परिवर्तन तथा उसके विभिन्न प्रकार की विधाओं से परिचित रहा जाए। परिवर्तन हमारे लिए एक मुख्य विषय है क्योंकि परिवर्तन की गति आधुनिक समय में मुख्यतः समकालीन समय में पहले की तुलना में काफ़ी तेज़ हो गई है। यद्यपि सामाजिक परिवर्तन को विगत समय में अच्छी तरह से समझा जा सकता है—जब यह घटित हो चुका होता है—हमें इसके होने के समय से परिचित होना चाहिए तथा उसके लिए जो भी तैयारी हो सके करनी चाहिए।

सामाजिक व्यवस्था

सामाजिक घटना अथवा प्रक्रियाओं का अर्थ विषमताओं में ही साफ़ उभर कर आता है, ठीक उसी प्रकार से जैसे पन्ने पर लिखे गए अक्षर जिसे आप पढ़ रहे हैं, सुवाच्य हैं क्योंकि वे पृष्ठभूमि की विषमता में हैं। ठीक इसी प्रकार, एक प्रक्रिया के रूप में, सामाजिक परिवर्तन अर्थ ग्रहण करता है, निरंतरता की पृष्ठभूमि में अथवा परिवर्तन के अभाव में। यह अजीब लग सकता है, परंतु परिवर्तन एक संकल्पना के रूप में तभी अर्थवान लगता है जब कुछ चीज़ें ऐसी भी होती हैं जो बदलती नहीं हैं, ताकि वे साम्य तथा वैषम्य की संभावना दिखा सकें। दूसरे शब्दों में, सामाजिक परिवर्तन, सामाजिक व्यवस्था के साथ ही समझा जा सकता है, जो सुस्थापित सामाजिक प्रणालियाँ परिवर्तन का प्रतिरोध तथा उसे विनियमित करती हैं।

सामाजिक परिवर्तन तथा सामाजिक क्रम के अंतर्संबंधों को देखने का दूसरा तरीका है, यह सोचना कि समाज परिवर्तन को रोकना, हतोत्साहित अथवा नियंत्रित क्यों करना चाहता है। अपने आपको एक शक्तिशाली तथा प्रासंगिक सामाजिक व्यवस्था के रूप में सुव्यवस्थित करने के लिए प्रत्येक समाज को अपने आपको समय के साथ पुनर्उत्पादित करना तथा उसके स्थायित्व को बनाए रखना पड़ता है। स्थायित्व के लिए आवश्यक है कि चीज़ें कमोबेश वैसी ही बनी रहें जैसी वे हैं—अर्थात व्यक्ति लगातार समान नियमों का पालन करता रहे, समान क्रियाएँ एक ही प्रकार के परिणाम दें और साधारणतः व्यक्ति तथा संस्थाएँ पूर्वानुमानित रूप में आचरण करें।

क्रियाकलाप 4

हम एक समान स्थिति को उबाऊ तथा परिवर्तन को प्रसन्नतादायक मानते हैं, वैसे यह सही भी है—कि परिवर्तन दिलचस्प होता है तथा परिवर्तन में कमी वाकई बेकार होती है। परंतु सोचिए कि जीवन कैसा होगा अगर आपको मजबूरन हमेशा बदलना पड़े... क्या होगा यदि आपको भोजन में वही खाना हमेशा न मिले, प्रत्येक दिन कुछ अलग, एक ही चीज़ दोबारा न मिले, चाहे आप पसंद करते हों या नहीं।

कल्पना करें इस डरावनी सोच का—क्या हो जब आप स्कूल से वापस आएँ तो घर में अलग-अलग लोग हों, अलग माता-पिता, अलग भाई-बहन.....? क्या हो यदि आप अपना पसंदीदा खेल खेलें—फुटबॉल, क्रिकेट, बॉलीवॉल, हॉकी इत्यादि—और हर बार नियम अलग हों? आप अपने जीवन के कुछ पक्षों के बारे में सोचिए जहाँ आप चीज़ों को जल्दी बदलना नहीं चाहेंगे। क्या ये आपके जीवन के वे क्षेत्र हैं जहाँ आप चीज़ों में जल्दी परिवर्तन चाहेंगे? कारण सोचने की कोशिश कीजिए कि क्यों आप कुछ विशेष स्थितियों में परिवर्तन चाहेंगे या नहीं?

समाज परिवर्तन के प्रति विरोधी भाव क्यों रखता है, उपरोक्त तर्क इसका अमूर्त तथा सामान्य कारण है। परंतु इसके ठोस तथा विशिष्ट कारण हैं कि समाज क्यों परिवर्तन का विरोध करता है। याद कीजिए, आपने सामाजिक संरचना तथा सामाजिक स्तरीकरण के बारे में प्रथम अध्याय में क्या पढ़ा था। अधिकतर समय, अधिकतर समाज असंगत रूप में संस्तरित होते हैं, अर्थात आर्थिक संसाधनों, सामाजिक स्तर तथा राजनैतिक शक्ति के संदर्भ में विभिन्न वर्गों की स्थिति भिन्न है। यह आश्चर्यजनक नहीं है कि जिनकी स्थिति अनुकूल है वे यथास्थिति चाहते हैं तथा जो विपरीत परिस्थितियों में हैं परिवर्तन चाहते हैं। अतः समाज के शासक अथवा प्रभावशाली वर्ग अधिकांशतः सामाजिक परिवर्तन का प्रतिरोध करते हैं जो उनकी स्थिति को बदल सकते हैं क्योंकि स्थायित्व में उनका अपना हित होता है। वहीं दूसरी तरफ़, अधीनस्थ अथवा शोषित वर्गों का हित परिवर्तन में होता है। 'सामान्य' स्थितियाँ अधिकांशतः अमीर तथा शक्तिशाली वर्गों की तरफ़दारी करती हैं तथा वे परिवर्तन के प्रतिरोध में सफल होती हैं। यह समाज के स्थिर रहने का दूसरा विस्तृत कारण है।

सामान्यतः यह माना जाना कि सामाजिक व्यवस्था परिवर्तन के विचारों से प्रतिबंधित नहीं है, इसका अर्थ सकारात्मक अधिक है। यह सामाजिक संबंधों के विशिष्ट पद्धति तथा मूल्यों एवं मानदंडों के सक्रिय अनुरक्षण तथा उत्पादन को निर्देशित करता है। विस्तृत रूप में, सामाजिक व्यवस्था इन दो में से किसी एक तरीके से प्राप्त की जा सकती है—जहाँ व्यक्ति नियमों तथा मानदंडों को स्वतः मानते हों अथवा जहाँ व्यक्तियों को मानदंडों को मानने के लिए बाध्य किया जाता हो। प्रत्येक समाज इन दोनों तरीकों का मिश्रित प्रयोग सामाजिक व्यवस्था बनाए रखने के लिए करता है।

सामाजिक व्यवस्था के सहज संकेंद्रन का स्रोत मूल्यों तथा मानदंडों की साझेदारी से निर्धारित होता है। यह समाजीकरण की प्रक्रिया में अपनाया जाता है (समाजीकरण पर परिचर्चा समाजशास्त्र की प्रस्तावना में देखें)। समाजीकरण भिन्न परिस्थितियों में अधिक या न्यूनतः कुशल हो सकता है, परंतु वह कितना ही कुशल क्यों न हो, यह व्यक्ति की दृढ़ता को पूर्ण रूप से समाप्त नहीं कर सकता है। दूसरे शब्दों में, समाजीकरण मनुष्य को रोबोट नहीं बना सकता। यह हर समय प्रत्येक मानदंड के लिए पूर्ण तथा स्थायी सहमति तैयार नहीं कर सकता। इसका अनुभव आपने भी अपने जीवन में किया होगा, नियम तथा विश्वास

जो एक समय में प्राकृतिक तथा सही लगते हैं, दूसरे समय में उतने सही नहीं लगते हैं। हम अपनी बीती धारणाओं पर प्रश्न करते हैं तथा हम किसे सही अथवा गलत मानते हैं—इस पर अपनी सोच बदल देते हैं। कई बार, हम अपने विश्वासों को वापस मान लेते हैं जिन्हें हमने पहले माना तथा फिर छोड़ दिया। कालांतर में भिन्न परिस्थितियों में जीवन की किसी आगामी अवस्था में हम उन्हें पुनः नए रूप में पाते हैं। अतः समाजीकरण, सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने के लिए अथक प्रयास करता है परंतु यह प्रयास भी अपने आप में पूर्ण नहीं होता।

अतः अधिकतर आधुनिक समाज कुछ रूपों में संस्थागत तथा सामाजिक मानदंडों को बनाए रखने के लिए शक्ति अथवा दबाव पर निर्भर करते हैं। यह आवश्यक है। सत्ता की परिभाषा अधिकांशतः इस रूप में दी जाती है कि सत्ता स्वेच्छानुसार एक व्यक्ति से मनचाहे कार्य को करवाने की क्षमता रखती है। जब सत्ता का संबंध स्थायित्व तथा स्थिरता से होता है तथा इससे जुड़े पक्ष अपने सापेक्षिक स्थान के अभ्यस्त हो जाते हैं, तो हमारे सामने प्रभावशाली स्थिति उत्पन्न होती है। यदि सामाजिक तथ्य (व्यक्ति, संस्था अथवा वर्ग) नियमपूर्वक अथवा आदतन सत्ता की स्थिति में होते हैं, तो इसे प्रभावी माना जाता है। साधारण समय में, प्रभावशाली संस्थाएँ, समूह तथा व्यक्ति समाज में निर्णायक प्रभाव रखते हैं। ऐसा नहीं है कि उन्हें चुनौतियों का सामना नहीं करना पड़ता, परंतु यह विपरीत तथा विशिष्ट परिस्थितियों में होता है। हालाँकि इसका मतलब हो सकता है कि व्यक्ति को कुछ कार्य जबरन करना पड़ता है। आम स्थितियों में इसका प्रभाव काफ़ी 'सुगम' होता है, अर्थात बिना किसी घर्षण अथवा परेशानी के दिखाई देता है। ('बाध्य सहयोग' की संकल्पना अध्याय-1 में देखिए। उदाहरणतः महिलाएँ अपने जन्म के परिवार में संपत्ति के अधिकार का दावा क्यों नहीं करतीं? वे पितृसत्तात्मक मानदंड से सहमति क्यों रखती हैं?)

प्रभाव, सत्ता तथा कानून

यह कैसे हो सकता है कि प्रभाव अप्रतिरोधक हो जबकि यह सीधे तौर पर असंतुलित संबंधों पर आधारित है जहाँ कीमतें तथा सुविधाएँ अनियमित रूप से बाँटे हुए हैं। उत्तर का आंशिक भाग हमें पूर्व अध्याय की परिचर्चा से प्राप्त हो चुका है— प्रभावशाली वर्ग असंतुलित संबंधों में अपनी शक्ति के बल पर सहयोग प्राप्त करते हैं। परंतु यह शक्ति काम क्यों करती है? क्या यह कार्य केवल शक्ति के भय से करता है? यहाँ हम समाजशास्त्र की मुख्य संकल्पना 'वैधता' पर आते हैं।

सामाजिक संदर्भ में, वैधता इंगित करती है स्वीकृति की स्थिति जो शक्ति संतुलन में अंतर्निहित है। ऐसी चीज़ें जो वैध हैं वह उचित, सही तथा ठीक मानी जाती हैं। बृहत स्तर पर, यह सामाजिक संविदा का अभिस्वीकृत भाग है जो सामयिक रूप से प्रचलित है। संक्षेप में, 'वैधता' अधिकार, संपत्ति तथा न्याय के प्रचलित मानदंडों की अनुरूपता में निहित है। हमने पहले ही देखा है कि शक्ति समाज में किस प्रकार से परिभाषित होती है, शक्ति अपने आप में एक सच्चाई है— यह कानूनी हो सकती है अथवा नहीं। मैक्स

वैबर के अनुसार सत्ता कानूनी शक्ति है–अर्थात शक्ति न्यायसंगत तथा ठीक समझी जाती है। उदाहरण के लिए, एक पुलिस ऑफ़िसर, एक जज अथवा एक स्कूल शिक्षक–सब अपने कार्य में निहित सत्ता का प्रयोग करते हैं। ये शक्ति उन्हें विशेषकर उनके सरकारी कार्यों की रूपरेखा को देखते हुए प्रदान की गई है–लिखित कागज़ातों द्वारा सत्ता क्या कर सकती है तथा क्या नहीं, का बोध होता है।

सत्ता का अर्थ है कि समाज के अन्य सदस्य जो इसके नियमों तथा नियमावलियों को मानने को तैयार हैं, इस सत्ता को एक सही क्षेत्र में मानने को बाध्य हों। मसलन, एक जज का कार्य क्षेत्र कोर्टरूम होता है, और जब नागरिक कोर्ट में होते हैं, उन्हें जज की आज्ञा का पालन करना पड़ता है अथवा उनकी शक्ति से वे असहमति जता सकते हैं। कोर्टरूम के बाहर जज किसी भी अन्य नागरिक की तरह हो सकता है। अत: सड़क पर उसे पुलिस की कानूनी सत्ता को मानना पड़ेगा। अपनी ड्यूटी पर, पुलिस सभी नागरिकों की क्रियाओं की निगरानी करती है केवल अपने बड़े ऑफिसर को छोड़कर। परंतु नागरिकों का निजी जीवन उनके अधिकार क्षेत्र की सीमा से तब तक बाहर रहता है जब तक वे संदिग्ध अथवा गैरकानूनी कार्य न करें। अलग तरीके से–अलग इसलिए क्योंकि जिस प्रकार की शक्ति निहित है वह कम सख्ती के साथ परिभाषित की गई है–शिक्षक की सत्ता अपने छात्रों पर कक्षा के अंदर होती है। उसकी सत्ता का क्षेत्र उसके छात्रों के घर तक विस्तृत नहीं है जहाँ माता-पिता अथवा अभिभावकों के कर्तव्य तथा शक्ति बच्चों के लिए महत्वपूर्ण होते हैं।

कुछ अन्य प्रकार की सत्ता होती है जिनको सख्ती से परिभाषित नहीं किया गया है, परंतु सहयोग तथा सहमति बनाने में वे बेहद प्रभावी होते हैं। इसका एक अच्छा उदाहरण धार्मिक नेता की शक्ति है। यद्यपि कुछ संस्थागत धर्मों ने आंशिक रूप में इस सत्ता को औपचारिक बनाया है परंतु एक धार्मिक वर्ग के नेता अथवा छोटी संस्थाओं के अल्पसंख्यक धार्मिक वर्ग औपचारिक हुए बिना भी अत्यंत ताकतवर होते हैं। ठीक इसी प्रकार शिक्षाविद्, कलाकार, लेखक तथा अन्य बुद्धिजीवी अपने-अपने क्षेत्रों में, बिना औपचारिक हुए, काफी शक्तिशाली हैं। यह अपराधी गिरोह के मुखिया के लिए भी सही है कि उसके पास बिना किसी औपचारिक मानदंडों के पूर्ण सत्ता होती है।

सुस्पष्ट संहिता तथा अनौपचारिक सत्ता में अंतर कानून के बोध में प्रासंगिक है। कानून सुस्पष्ट संहिताबद्ध मानदंड अथवा नियम होते हैं। यह ज्यादातर लिखे जाते हैं तथा नियम किस प्रकार बनाए अथवा बदले जाने चाहिए, अथवा कोई उनको तोड़ता है तो क्या करना चाहिए, इसके लिए भी कानून है। आधुनिक लोकतांत्रिक समाज में कानून विधायिका द्वारा तैयार किए जाते हैं जिनका निर्माण चुने हुए प्रतिनिधियों द्वारा होता है। राष्ट्र का कानून वहाँ की जनता के नाम पर उनके द्वारा चुने गए प्रतिनिधियों द्वारा चलाया जाता है। ये कानून नियमों को बनाते हैं जिनके द्वारा समाज पर शासन किया जाता है। कानून प्रत्येक नागरिक पर लागू होता है। चाहे एक व्यक्ति के रूप में 'मैं' कानून विशेष से सहमत हूँ या नहीं, यह नागरिक के रूप में 'मुझे' जोड़ने

वाली ताकत है, तथा अन्य सभी नागरिकों को उनकी मान्यताओं से हटकर।

अत: प्रभाव, शक्ति के तहत कार्य करता है, परंतु इनमें से अधिकांश शक्ति वास्तव में कानूनी शक्ति अथवा सत्ता होती है, जिसका एक बृहत्तर भाग कानून द्वारा संहिताबद्ध होता है। कानूनी संरचना तथा संस्थागत मदद के कारण सहमति तथा सहयोग नियमित रूप से तथा भरोसे के आधार पर लिया जाता है। यह शक्ति के प्रभाव क्षेत्र अथवा प्रभावितों को समाप्त नहीं करता। यह उल्लेखनीय है कि कई प्रकार की शक्तियाँ हैं जो समाज में प्रभावी हैं हालाँकि वे गैरकानूनी हैं, और यदि कानूनी हैं तब कानूनी रूप से संहिताबद्ध नहीं हैं। यह कानूनी, कानूनी सत्ता तथा अन्य प्रकार की शक्तियाँ हैं जो सामाजिक व्यवस्था की प्रकृति तथा उसकी गतिशीलता को निर्धारित करती हैं।

विवाद (संघर्ष), अपराध तथा हिंसा

प्रभाव, शक्ति, कानूनी सत्ता तथा कानून के अस्तित्व का यह अर्थ नहीं है कि हमेशा उनका पालन हो या उन्हें माना जाए। आपने पहले ही समाज में संघर्ष तथा प्रतियोगिता के बारे में पढ़ा है। ठीक इसी प्रकार, समाज में विवाद के सामान्य प्रकार को जानने की आवश्यकता है। विवाद विस्तृत रूप में असहमति के लिए एक शब्द के रूप में प्रयुक्त हुआ है। प्रतियोगिता तथा संघर्ष इससे अधिक विशिष्ट हैं तथा असहमति के अन्य प्रकारों को छोड़ देते हैं, जिनका इस प्रकार की परिभाषा में वर्णन न किया जा सके।

इसका एक उदाहरण है युवाओं में पाई जाने वाली 'दोहरी-संस्कृति' अथवा युवा असंतोष। यह प्रचलित सामाजिक मानदंडों का विरोध अथवा अस्वीकृति है। इन विरोधों की विषयवस्तु बाल अथवा वस्त्रों के फैशन से लेकर भाषा अथवा जीवनशैली कुछ भी हो सकता है। अत्यधिक मानक अथवा परंपरागत प्रतिद्वंद्विता का रूप चुनाव होता है–जो राजनैतिक प्रतियोगिता का एक रूप है।

विवाद, कानून अथवा कानूनी सत्ता से असहमति अथवा विद्रोह भी होता है। खुले तथा लोकतांत्रिक समाज इस प्रकार की असहमति को भिन्न स्तरों तक छूट देते हैं। इस प्रकार की असहमति के लिए स्पष्ट तथा अस्पष्ट दोनों प्रकार की सीमाएँ परिभाषित की गई हैं। इन सीमाओं का उल्लंघन किसी-न-किसी रूप में समाज की प्रतिक्रिया को जानना चाहते हैं, विशेषकर कानून प्रवर्तन अधिकारियों की।

जैसा कि आप जानते हैं, भारतीयों की तरह एक रहने पर भी हमें एक-दूसरे को एक दूसरे से असहमत होने से नहीं रोक सकते। विभिन्न राजनैतिक दलों की भिन्न कार्यसूचियाँ होती हैं यद्यपि वे एक ही संविधान का आदर करते हैं। एक जैसे ट्रैफिक नियमों का ज्ञान सड़क पर जोरदार बहस को रोक नहीं पाता। दूसरी तरफ, महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि समाज में कितने अंतर अथवा असहमति को सहन किया जाता है। इस प्रश्न का उत्तर सामाजिक तथा ऐतिहासिक स्थितियों पर निर्भर करता है परंतु यह समाज में एक महत्त्वपूर्ण सीमा अंकित करता है, कानूनी तथा गैर कानूनी, वैध तथा अवैध, माननीय तथा अमाननीय सीमाएँ।

यद्यपि, सामान्य रूप से उनमें एक शक्तिशाली नैतिक आरोप होता है, माना जाता है कि अपराध

की व्युत्पत्ति कानून से होती है। अपराध एक ऐसा कर्म है जो विद्यमान कानून को तोड़ता है—न ज्यादा, न कम। किसी भी क्रिया की नैतिकता केवल इस बात से ही निर्धारित नहीं होती कि इसने विद्यमान कानून को तोड़ा है। यदि विद्यमान कानून न्यायपूर्ण नहीं है, उदाहरण के तौर पर एक व्यक्ति इसे तोड़ने में ऊँचे नैतिक कारणों का दावा करता है। ऐसा ही सविनय अवज्ञा आंदोलन के तहत भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के नेता कर रहे थे। जब गांधीजी ने, दाँडी में, ब्रिटिश सरकार का नमक कानून तोड़ा, तो वे एक अपराध कर रहे थे तथा उन्हें इसके लिए गिरफ़्तार भी किया गया। लेकिन उन्होंने इस अपराध को जानबूझकर तथा गर्व के साथ किया तथा भारतीय भी इस पर तथा जिन मूल्यों का वे प्रतिनिधित्व कर रहे थे, उस पर गर्व करते थे। वास्तव में, केवल एक यही अपराध नहीं था जो किया जा रहा था। यहाँ कई दूसरे प्रकार के अपराध थे जो नैतिकता का दावा नहीं कर सकते। मुख्य बिंदु यह है कि - अपराध कानून को तोड़ना है- कानून द्वारा परिभाषित वैध सीमाओं के बाहर जाना है।

हिंसा का प्रश्न अपने विस्तृत स्तर पर राज्य की बुनियादी परिभाषा से जुड़ता है। आधुनिक राज्य की एक प्रमुख विशेषता है कि वह अपने कार्यक्षेत्र में वैध हिंसा के प्रयोग पर एकाधिकार समझता है। दूसरे शब्दों में, राज्य (सत्तावादी कार्यकारियों द्वारा) कानूनी तौर पर हिंसा का प्रयोग कर सकता है- परिभाषा के तौर पर अन्य सभी उदाहरण हिंसा के लिए गैर कानूनी हैं (कुछ अपवादों जैसे असाधारण स्थितियों में अपने आप को बचाने की स्थिति)। अतः तकनीकी तौर पर हिंसा की प्रत्येक क्रिया को राज्य के खिलाफ देखा जा सकता है। यदि मैं किसी व्यक्ति पर हमला अथवा उसे जान से मार दूँ तो राज्य मुझे हिंसा के वैध प्रयोग के एकाधिकार का हनन करने पर अभियोजित करेगा।

यह साफ है कि हिंसा सामाजिक व्यवस्था की शत्रु है तथा विरोध का उग्र रूप है जो मात्र कानून का ही नहीं बल्कि महत्त्वपूर्ण सामाजिक मानदंडों का भी अतिक्रमण करती है। समाज में हिंसा सामाजिक तनाव का प्रतिफल है तथा गंभीर समस्याओं की उपस्थिति को दर्शाती है। यह राज्य की सत्ता को चुनौती भी है। इस अर्थ में वैध शासन की असफलता, सहमति तथा खुले तौर पर संघर्षों का होना है।

गाँव, कस्बों और नगरों में सामाजिक व्यवस्था तथा सामाजिक परिवर्तन

अधिकांश समाजों का वर्गीकरण ग्रामीण तथा नगरीय क्षेत्रों में किया जाता है। इसलिए जीवन की दशाएँ तथा सामाजिक संगठन के रूप, इन क्षेत्रों में एक-दूसरे से काफी अलग होते हैं। अतः, सामाजिक व्यवस्था के रूप जो इन क्षेत्रों में विद्यमान होते हैं, तथा विभिन्न प्रकार के सामाजिक परिवर्तन के प्रकार पाए जाते हैं जिन्हें समझना काफ़ी महत्त्वपूर्ण है।

हम सब मानते हैं कि एक गाँव, कस्बा अथवा नगर का अर्थ क्या है। परंतु क्या हम ठीक तरह से इनमें अंतर स्पष्ट करते हैं? (अध्याय 5 में ग्रामीण अध्ययन के अंतर्गत एम.एन. श्रीनिवास पर हुई परिचर्चा देखें) समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से, गाँवों का उद्भव सामाजिक संरचना में आए

महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों से हुआ जहाँ खानाबदोशी जीवन की पद्धति जो शिकार, भोजन संकलन तथा अस्थायी कृषि पर आधारित थी, का संक्रमण स्थायी जीवन में हुआ। स्थानीय कृषि–अथवा कृषि का वह रूप जहाँ जीविकोपार्जन के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान पर नहीं घूमना पड़ता–के साथ सामाजिक संरचना में भी परिवर्तन आया। भूमि निवेश तथा तकनीकी खोजों ने कृषि में अतिरिक्त उत्पादन की संभावना को जन्म दिया जो उसके सामाजिक अस्तित्व के लिए अपरिहार्य है। अत: स्थायी कृषि का अर्थ हुआ संपत्ति का जमाव संभव था जिसके कारण सामाजिक विषमताएँ भी आईं। अत्यधिक उच्च श्रम-विभाजन ने व्यावसायिक विशिष्टता की आवश्यकता को जन्म दिया। इन सब परिवर्तनों ने मिलकर गाँव के उद्‌भव को एक आकार दिया जहाँ लोगों का निवास एक विशिष्ट प्रकार के सामाजिक संगठन पर आधारित था।

आर्थिक तथा प्रशासनिक शब्दों में, ग्रामीण तथा नगरीय बसावट के दो मुख्य आधार हैं: जनसंख्या का घनत्व तथा कृषि-आधारित आर्थिक क्रियाओं का अनुपात। (बाह्य आकृति के विपरीत, आकार हमेशा निर्णायक नहीं होते; बड़े गाँव तथा छोटे शहरों को मात्र उनकी जनसंख्या के आधार पर एक-दूसरे से अलग करना कठिन होता है।) अत: शहरों तथा नगरों में जनसंख्या का घनत्व अधिक होता है–अथवा प्रति इकाई क्षेत्र में लोगों की संख्या, जैसे वर्ग किलोमीटर तुलना में गाँव। यद्यपि लोगों की संख्या की दृष्टि से वे छोटे होते हैं, परंतु गाँवों का विस्तार तुलनात्मक रूप में अधिक बड़े क्षेत्र में होता है। शहरों तथा नगरों से गाँव को उनके आर्थिक प्रारूप में कृषिजन्य क्रियाकलापों में एक बड़े भाग के आधार पर भी अलग किया जाता है। दूसरे शब्दों में, गाँवों की आबादी का एक बड़ा हिस्सा कृषि संबंधित व्यवसाय से जुड़ा है। अधिकांश वस्तुएँ कृषि उत्पाद ही होती हैं जो इनकी आय का प्रमुख स्रोत होता है।

मुख्यत: कस्बे तथा नगर में अंतर, प्रशासनिक परिभाषा का विषय है। एक कस्बा तथा नगर मुख्यत: एक ही प्रकार के व्यवस्थापन होते हैं, जहाँ अंतर उनके आकार के आधार पर होता है। एक 'शहरी संकुल' (शब्द जो जनगणना तथा कार्यालयी रिपोर्ट में इस्तेमाल किए जाते हैं) एक ऐसे नगर के संदर्भ में प्रयुक्त होता है जिसके चारों ओर उप-नगरीय क्षेत्र तथा उपाश्रित व्यवस्थापन होते हैं। 'महानगरीय क्षेत्र' के अंतर्गत एक से अधिक नगर आते हैं अथवा एक क्रमवार शहरी व्यवस्थापन जो एक अकेले शहर के कई गुना के बराबर होते हैं।

जिस दिशा में आधुनिक समाज का विकास हुआ है, नगरीकरण की प्रक्रिया अधिकतर देशों में देखी जा रही है। यह ऐसी प्रक्रिया है जहाँ क्रमश: नगरीय जनसंख्या का बड़े से बड़ा हिस्सा ग्रामीण क्षेत्रों की अपेक्षा नगरों में रहता है। अधिकांश विकसित देश ज़्यादातर नगरीय हैं। विकासशील देशों में भी नगरीकरण के प्रति रुझान देखा जा रहा है। यह तीव्र अथवा मद्धिम हो सकता है, अगर कोई विशेष कारण न हो तो इसे अवरुद्ध नहीं किया जा सकता। अधिकांश संदर्भों में यह प्रक्रिया घटित हो रही है। संयुक्त राष्ट्र संघ की 2007 की रिपोर्ट के अनुसार, मानव इतिहास में

पहली बार, संसार की नगरीय जनसंख्या ग्रामीण जनसंख्या को पीछे छोड़ देगी। भारतीय समाज में भी नगरीकरण की प्रक्रिया देखी जा सकती है। (स्वतंत्रता के तुरंत बाद नगरीय क्षेत्रों में निवास करने वाली जनसंख्या का प्रतिशत 1901 में 11% से थोड़ा कम तथा 1951 में 17% से थोड़ा ज़्यादा था।) 2001 की जनगणना के अनुसार अब 28% के करीब जनसंख्या नगरीय क्षेत्रों में रहती है। 2011 की जनगणना के अनुसार भारत की लगभग 35% जनसंख्या नगरों में निवास करती है।

ग्रामीण क्षेत्रों में सामाजिक व्यवस्था तथा सामाजिक परिवर्तन

चूँकि गाँवों की वस्तुनिष्ठ स्थिति भिन्न होती है। अतः यह अपेक्षा की जाती है कि सामाजिक व्यवस्था तथा सामाजिक परिवर्तन की प्रकृति में भी भिन्नता होगी। गाँवों का आकार छोटा होता है। अतः ये अधिकांशतः व्यक्तिगत संबंधों का अनुमोदन करते हैं। गाँव के लोगों द्वारा तकरीबन गाँव के ही दूसरे लोगों को देखकर पहचान लेना असामान्य नहीं है। अधिकांशतः गाँव की सामाजिक संरचना परंपरागत तरीकों से चालित होती है: इसलिए संस्थाएँ जैसे जाति, धर्म तथा सांस्कृतिक एवं परंपरागत सामाजिक प्रथाओं के दूसरे स्वरूप यहाँ अधिक प्रभावशाली हैं। इन कारणों से, जब तक कोई विशिष्ट परिस्थितियाँ न हों, गाँवों में परिवर्तन नगरों की अपेक्षा धीमी गति से होता है।

इसके लिए अलग से भी कई कारण जिम्मेदार हैं। विभिन्न परिस्थितियाँ यह सुनिश्चित करती हैं कि समाज के अधीनस्थ समूहों के पास ग्रामीण इलाके में अपने नगरीय भाइयों की तुलना में अभिव्यक्ति के दायरे बहुत कम होते हैं। गाँव में व्यक्ति एक दूसरे से सीधा संबद्ध होता है। इसलिए व्यक्ति विशेष का समुदाय के साथ असहमत होना कठिन होता है और इसका उल्लंघन करने वालों को सबक सिखाया जा सकता है। इसके साथ ही, प्रभावशाली वर्गों की शक्ति सापेक्षिक रूप से कहीं ज़्यादा होती है क्योंकि वे रोज़गार के साधनों तथा अधिकांशतः अन्य संसाधनों को नियंत्रित करते हैं। अतः गरीबों को प्रभावशाली वर्गों पर निर्भर होना पड़ता है क्योंकि उनके पास रोज़गार के अन्य साधन अथवा सहारा नहीं होता। कम जनसंख्या के कारण, अधिक व्यक्तियों को संगठित करना कठिन कार्य होता है, विशेषकर इस प्रकार की कोशिशों को बलशाली वर्ग से छिपाया नहीं जा सकता तथा जल्दी ही उसे दबा दिया जाता है। अतः संक्षेप में, यदि गाँव में पहले से ही मजबूत शक्ति संरचना होती तो उसे उखाड़ फेंकना बहुत कठिन होता है। ग्रामीण क्षेत्रों में शक्ति संरचना के संदर्भ में होने वाला परिवर्तन और भी धीमा होता है क्योंकि वहाँ की सामाजिक व्यवस्था अधिक मज़बूत और स्थिर होती है।

किसी क्षेत्र में परिवर्तन आने में भी समय लगता है क्योंकि गाँव बिखरे होते हैं तथा पूरी दुनिया से एकीकृत नहीं होते जैसे नगर तथा कस्बे होते हैं। यह सही है, संचार के नए साधन, विशेषकर टेलीफोन तथा टेलीविजन से काफी परिवर्तन आया है। अतः अब सांस्कृतिक 'पिछड़ापन' गाँवों तथा नगरों के बीच काफी कम या न के बराबर हो गया है। अन्य संचार के साधनों (सड़कें, रेल) में भी समय के साथ सुधार आया है इसके कारण मात्र कुछ एक गाँव 'एकांत' तथा 'पिछड़ा' होने का दावा कर सकते

हैं। ऐसे शब्द जो बिना सोचे-समझे भूतकाल में गाँवों के साथ जुड़े थे। इसने समाज को और भी गतिशील किया है।

निःसंदेह कृषि से संबंधित परिवर्तन अथवा कृषकों के सामाजिक संबंधों का ग्रामीण समाजों पर गहरा प्रभाव पड़ा है। अतः भू-स्वामित्व की संरचना में आए परिवर्तनों पर भूमि सुधार जैसे कदमों का सीधा प्रभाव पड़ा। भारत में स्वतंत्रता के बाद भूमि सुधार के पहले चरण में, दूरवासी ज़मीदारों से स्वामित्व के हक लेकर उन समूहों को दे दिए गए जो वास्तव में भूमि की देख-भाल तथा खेती कर रहे थे। इनमें से अधिकांश समूह मध्यवर्ती जातियों से संबंधित थे और यद्यपि वे स्वयं ज़्यादातर कृषक नहीं थे, पर उन्होंने भूमि पर आधिपत्य जमा लिया। उनकी संख्या के अनुरूप, इस तथ्य ने उनके सामाजिक स्तर तथा राजनैतिक शक्ति को बढ़ाया क्योंकि चुनाव जीतने के लिए उनके वोट आवश्यक थे। एम.एन. श्रीनिवास ने इन वर्गों को 'प्रभावी जातियों' के नाम से पुकारा है। कई क्षेत्रीय संदर्भों में, प्रभावी जातियाँ आर्थिक दृष्टि से बेहद शक्तिशाली हो गई थीं तथा गाँवों में उनका वर्चस्व होने के कारण उन्होंने चुनावी राजनीति को प्रभावित किया। आज के संदर्भ में ये प्रभावी जातियाँ स्वयं अपने से निम्न जातियों-निम्नतर तथा अत्यधिक पिछड़ी जातियों द्वारा दृढ़तापूर्वक किए गए विद्रोहों से स्वयं भी जूझ रही हैं। इस कारण, कई राज्यों; जैसे-आंध्रप्रदेश, बिहार, उत्तर प्रदेश तथा तमिलनाडु में प्रमुख सामाजिक आंदोलनों की प्रवृत्ति देखी जा रही है।

इसी प्रकार, कृषि की तकनीकी प्रणाली में परिवर्तन ने भी ग्रामीण समाज पर व्यापक तथा तात्कालिक प्रभाव डाला है। नयी मशीनरी के प्रयोग से श्रम में बचत होती है तथा फसलों की नवीन पद्धति इत्यादि के कारण मजदूर की माँग में परिवर्तन अपेक्षित होगा तथा इसके कारण विभिन्न सामाजिक समूहों; जैसे-जमींदार तथा मज़दूरों के बीच मोलभाव की सापेक्षिक ताकतों में परिवर्तन आएगा। यदि वे प्रत्यक्ष रूप से मज़दूरों की माँग को प्रभावित न भी करते हों, तकनीकी तथा आर्थिक परिवर्तन विभिन्न समूहों की आर्थिक शक्ति को परिवर्तित कर सकते हैं और इस प्रकार परिवर्तनों की शृंखला को प्रारंभ करते हैं। कृषि की कीमतों में आकस्मिक उतार-चढ़ाव, सूखा अथवा बाढ़ ग्रामीण समाज में विप्लव मचा देते हैं। भारत में किसानों द्वारा हाल ही में की गई आत्महत्या की संख्या में वृद्धि इसके उदाहरण हैं। वहीं दूसरी तरफ, बड़े स्तर पर विकास कार्यक्रम जो निर्धन ग्रामीणों को ध्यान में रखकर चलाए जाते हैं, उनका भी काफी असर पड़ता है। इसका एक बढ़िया उदाहरण 2005 का महात्मा गांधी राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी अधिनियम है। (मनरेगा)

क्रियाकलाप 5

महात्मा गांधी राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी (मनरेगा) अधिनियम के बारे में जानकारी हासिल कीजिए। इसका उद्देश्य क्या है? यह एक प्रमुख विकास योजना क्यों मानी जाती है? इसे कौन-कौन सी समस्याओं का सामना करना पड़ता है? अगर यह सफल हो जाता है तो इसके क्या प्रभाव हो सकते हैं?

नगरीय क्षेत्रों में सामाजिक व्यवस्था तथा सामाजिक परिवर्तन

यह सर्वविदित है कि नगर अपने आप में बेहद प्राचीन हैं– ये प्राचीन समाज में भी थे। नगरवाद, जनसमूह के एक बड़े भाग की जीवन पद्धति के रूप में आधुनिक घटना है। आधुनिक काल से पहले व्यापार, धर्म तथा युद्ध कुछ महत्त्वपूर्ण कारक थे जो नगरों की महत्ता तथा स्थिति तय करते थे। ऐसे नगर जो मुख्य व्यापार मार्ग अथवा पत्तन और बंदरगाहों के किनारे बसे थे, प्राकृतिक रूप में लाभ की स्थिति में थे। इसी प्रकार वह नगर जो सामरिक दृष्टि से बेहतरीन रूप में स्थित थे। आखिरी में, धार्मिक स्थल अधिक संख्या में भक्तों को आकर्षित करते थे और इस प्रकार नगर अर्थव्यवस्था को सहारा देते थे। भारत में भी प्राचीन नगरों के उदाहरण देखे जा अन्य सकते हैं, जैसे असम में ब्रह्मपुत्र नदी के किनारे बसा मध्यकालीन व्यावसायिक नगर तेजपुर अथवा कोज़ीकोट (पहले कालीकट नाम से जाना जाता था) जो उत्तरी केरल में अरब महासागर पर स्थित है। हमारे पास मंदिर, नगरों तथा धर्मस्थानों के कई उदाहरण हैं; जैसे– राजस्थान में अजमेर, उत्तर प्रदेश में वाराणसी (बनारस तथा काशी के नाम से भी जाना जाता है) तथा तमिलनाडु में मदुरई।

जैसा कि समाजशास्त्रियों ने स्पष्ट किया है, नगरीय जीवन तथा आधुनिकता दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।, वास्तव में प्रत्येक को दूसरे की अंतर अभिव्यक्ति माना जाता है। हालाँकि, यहाँ बहुत अधिक तथा सघन जनसंख्या निवास करती है तथा चूँकि ये इतिहास में जन राजनीति के

रोगी की जाँच करते हुए चिकित्सक

स्थल के रूप में जाने जाते हैं, नगर को आधुनिक व्यक्ति का प्रभावक्षेत्र भी माना जाता है। अज्ञानता तथा सुविधाओं का सम्मिश्रण तथा साथ ही एक ऐसी संस्था जिसे बड़ी संख्या में लोग अपना सके, नगर व्यक्ति को संतुष्ट करने के लिए अंतहीन संभावनाएँ प्रदान करता है। गाँव जहाँ व्यक्तिवादिता को हतोत्साहित करता है तथा अधिक दे नहीं सकता, नगर व्यक्ति का पोषण करता है।

यद्यपि अधिकांश कलाकारों, लेखकों तथा मनीषियों ने जब नगर को व्यक्ति का स्वर्ग कहा तो वे गलत नहीं थे, लेकिन यह भी सत्य है कि स्वतंत्रता तथा अवसर केवल कुछ व्यक्तियों को ही प्राप्त है। उपयुक्त तरीके से, केवल सामाजिक तथा आर्थिक विशेषाधिकार प्राप्त अल्पसंख्यक ही विलासी, पूर्णरूपेण उन्मुक्त तथा संतुष्ट जीवन जी सकते हैं। अधिकतर व्यक्ति, जो नगरों में रहते हैं, बाध्यताओं में ही सीमित रहते हैं तथा उन्हें सापेक्षिक स्वतंत्रता प्राप्त नहीं होती है। ये परिचित सामाजिक तथा आर्थिक बाध्यताएँ, विभिन्न प्रकार के सामाजिक समूहों की सदस्यता द्वारा लगाई जाती हैं जैसा कि आप पूर्व अध्याय में पढ़ चुके हैं। नगर भी, समूह–पहचान के विकास को प्रतिपालित करते हैं–जो विभिन्न कारकों; जैसे– प्रजाति, धर्म, नृजातीय, जाति, प्रदेश तथा समूह प्रत्येक कस्बे के शहरी जीवन का पूर्ण प्रतिनिधित्व करते हैं। वास्तव में, कम स्थान में अत्यधिक लोगों का जमाव, पहचान को और तीव्र करता है तथा उन्हें अस्तित्व, प्रतिरोध तथा दृढ़ता की रणनीति का अभिन्न अंग बनाता है।

नगरों तथा कस्बों के अधिकांश महत्त्वपूर्ण मुद्दे तथा समस्याओं का संबंध स्थान के प्रश्न से जुड़ा है। जनसंख्या का उच्च घनत्व स्थान के अधिमूल्य पर अत्यधिक जोर देता है तथा रहने

छोटे भाई-बहन की देखभाल करती हुई बालिका

शहर का एक व्यावसायिक केंद्र

कपास के खेत में काम करती हुई महिलाएँ

के स्थान की बहुत जटिल समस्या उत्पन्न करता है। नगरीय सामाजिक व्यवस्था का प्राथमिक कार्य है कि नगर की स्थानिक जीवनक्षमता को आश्वस्त करे। इसका अर्थ है कि संगठन तथा प्रबंधन कुछ चीजों को जैसे–निवास तथा आवासीय पद्धति; जन यातायात के साधन उपलब्ध करा सकें ताकि कर्मचारियों की बड़ी संख्या को कार्यस्थल से लाया तथा ले जाया जा सके; आवासीय, सरकारी तथा औद्योगिक भूमि उपयोग क्षेत्र के सह–अस्तित्व की व्यवस्था तथा अन्त में जनस्वास्थ्य, स्वच्छता, पुलिस, जन सुरक्षा तथा कस्बे के शासन पर नियंत्रण की आवश्यकता। इनमें से प्रत्येक कार्य अपने आप में एक बृहत उपक्रम है तथा योजना, क्रियान्विति और रखरखाव को दुर्जय चुनौती देता है। इसे और जटिल बनाते हैं वे कार्य जो समूह, नृजातीयता, धर्म, जाति इत्यादि के विभाजन तथा तनाव से न केवल जुड़े बल्कि सक्रिय भी होते हैं। उदाहरण के तौर पर कस्बे में आवास का प्रश्न अपने साथ कई अन्य समस्याएँ भी लाता है। गरीबों के लिए आवास की समस्या 'बेघर' तथा 'सड़क पर चलने वाले लोग' इस प्रक्रिया को जन्म देते हैं–जो सड़कों, फुटपाथों, पुलों तथा फ्लाईओवर के नीचे, खाली बिल्डिंग तथा अन्य खाली स्थानों

नगरीय क्षेत्र में विभिन्न प्रकार के यातायात

नगर में खरीदारी

पर रहते तथा जीवनयापन करते हैं। यह इन बस्तियों के जन्म का एक महत्त्वपूर्ण कारण भी है। यद्यपि कार्यालयी परिभाषा भिन्न हो सकती है, एक बस्ती में भीड़-भाड़ तथा घिच-पिच वाला रिहायशी इलाका होता है, जहाँ जनसुविधाओं (सफाई, पानी, बिजली इत्यादि) का अभाव तथा घरों के निर्माण में प्लास्टिक की चादर तथा कार्डबोर्ड से लेकर बहु-मंजिली ढाँचों में प्रयुक्त काँक्रीट का प्रयोग होता है क्योंकि यहाँ 'स्थायी' संपत्ति का अधिकार दूसरे स्थानों की तरह नहीं होता है। अत: बस्तियाँ 'दादाओं' की जन्म भूमि होती हैं, जो उन लोगों पर अपना बलात् अधिकार दिखाते हैं जो वहाँ रहते हैं। बस्ती क्षेत्र पर अधिकार प्राकृतिक रूप से दूसरे तरीकों के गैर-कानूनी धंधों, अपराधों तथा भूमि संबंधित गैंग के अड्डे बन जाते हैं।

पूरे विश्व में व्याप्त 'गेटेड समुदाय' जैसी वृत्ति भारतीय शहरों में भी देखी जा सकती है। इसका अर्थ है एक समृद्ध प्रतिवेशी (पड़ौसी) का निर्माण जो अपने परिवेश से दीवारों तथा प्रवेशद्वारों से अलग होता है जहाँ प्रवेश तथा निकास नियंत्रित होता है। अधिकांश ऐसे समुदायों की अपनी समानांतर नागरिक सुविधाएँ; जैसे—पानी और बिजली सप्लाई, पुलिस तथा सुरक्षा भी होती हैं।

क्रियाकलाप 6

क्या आपने अपने कस्बे अथवा नगर में इस प्रकार के 'गेटेड समुदाय' को देखा/सुना है, अथवा कभी उनके घर गए हैं? बड़ों से इस समुदाय के बारे में पता कीजिए। चारदीवारी तथा गेट कब बने? क्या इसका विरोध किया गया, यदि हाँ तो किसके द्वारा? ऐसे स्थानों पर रहने के लिए लोगों के पास कौन से कारण हैं? आपकी समझ से—शहरी समाज तथा प्रतिवेशी पर इसका क्या असर पड़ेगा?

अंतत:, आवासीय प्रतिमान नगरीय अर्थव्यवस्था से निर्णायक रूप से जुड़े है। नगरी परिवहन व्यवस्था प्रत्यक्ष तथा गंभीर रूप से आवासीय क्षेत्रों के सापेक्ष औद्योगिक तथा वाणिज्यिक कार्यस्थलों से प्रभावित हुई है। अगर ये दूर-दराज स्थित होते हैं जैसा कि अक्सर होता है, ऐसी स्थिति में बृहत जन परिवहन प्रणाली के निर्माण तथा उसके रख-रखाव की आवश्यकता है। सफर करना जीवन की एक शैली हो जाती है तथा विच्छेदन का हमेशा के लिए जरिया बन जाता है। परिवहन व्यवस्था का नगर में काम करने वालों की 'जीवन की गुणवत्ता' पर सीधा प्रभाव पड़ता है। सड़क परिवहन पर भरोसा, सरकार के बजाए निजी साधनों (जैसे-बस की अपेक्षा कार) के प्रयोग से ट्रैफिक के जमाव तथा वाहन प्रदूषण की समस्या पैदा होती है। उपरोक्त चर्चा से यह होगा कि रहने के स्थान के आवंटन जैसा सरल मुद्दा वास्तव में बेहद जटिल तथा नगरीय समाज के बहुआयामी पक्ष को दर्शाता है।

प्रतिदिन लंबी दूरी का सफर तय करने वाले लोग एक प्रभावशाली राजनीतिक निर्वाचन क्षेत्र बन जाते हैं तथा कई बार वृहत उप-संस्कृति को बढ़ाते हैं। उदाहरणार्थ : मुंबई की उपनगरीय ट्रेन जो 'लोकल' के नाम से लोकप्रिय है – में सफर करने वालों के बीच संबंध अनौपचारिक रूप ले लेते हैं। ट्रेन के सामूहिक क्रियाकलापों में भजन गाना, त्योहार मनाना, सब्जी काटना,

ताश तथा बोर्ड खेलना (टूर्नामेंट भी शामिल है) अथवा सामान्यत: समाजीकरण की प्रक्रिया देखी जा सकती है।

नगरीय क्षेत्रों में सामाजिक परिवर्तन के रूप तथा तत्व को स्थान के केंद्रीय प्रश्न के संदर्भ में बेहतर ढंग से समझा जा सकता है। परिवर्तन का एक प्रत्यक्ष व प्रचलित तत्व किसी विशेष प्रतिवेशी तथा स्थान द्वारा उच्चता तथा निम्नता का अनुभव है। पूरे विश्व में, नगरीय केंद्र अथवा मूल नगर का केंद्रीय क्षेत्र के जीवन में बहुत से परिवर्तन आए। नगर के 'शक्ति केंद्र' 19वीं तथा 20वीं शताब्दी के प्रारंभ तक बने रहने के पश्चात नगरी केंद्र का पतन 20वी शताब्दी के उतरार्द्ध तक हुआ। यह उपनगर के विकास का समय भी था क्योंकि कई विभिन्न कारणों से संपन्न वर्ग ने नगरों के अंदरूनी भाग से पलायन किया था। आज पश्चिम के अधिकांश देशों में नगरीय केंद्रों का पुनरुत्थान हो रहा है तथा यह सामुदायिक जीवन को पुन: प्रारंभ करने की कोशिश के रूप में देखा जा रहा है। इससे संबंधित घटना 'भद्रीकरण' से है, जो प्रतिवेश के पूर्ववत निम्न वर्ग का मध्यम अथवा उच्च वर्ग के परिवर्तित स्वरूप को इंगित करता है। जैसे-जैसे भूमि की कीमतों में वृद्धि हुई यह उद्यमियों के लिए अधिक लाभदायक साबित हुआ, तथा उन्होंने इस परिवर्तन को प्रभावित करने का प्रयत्न किया। किसी बिंदु पर प्रचार संतुष्टि देने वाला होता है क्योंकि जैसे किराए की दर बढ़ती है तथा उपबस्ती ने एक न्यूनतम निर्णायक व्यापार तथा निवासी का रूप अपना लिया। परंतु कभी-कभी यह कोशिश बेकार भी जाती है जिससे प्रतिवेश का स्तर गिर जाता है तथा वह अपनी पुरानी स्थिति में पहुँच जाता है।

क्रियाकलाप 7

क्या आपने अपने पड़ोस में 'भद्रीकरण' देखा है? क्या आप इस तरह की घटना से परिचित हैं? पहले उपबस्ती कैसी थी जब यह घटित हुआ। पता कीजिए। किस रूप में परिवर्तन आया है? विभिन्न सामाजिक समूहों को इसने कैसे प्रभावित किया है? किसे फायदा तथा किसे नुकसान हुआ है? इस प्रकार के परिवर्तन का निर्णय कौन लेता है-क्या इस पर मतदान होता है अथवा किसी प्रकार की परिचर्चा होती है?

जन-परिवहन के साधनों में परिवर्तन नगरों में सामाजिक परिवर्तन ला सकते हैं। समर्थ, कार्यकुशल तथा सुरक्षित जन-परिवहन शहरी जीवन में भारी परिवर्तन लाते हैं तथा नगर की आर्थिक स्थिति को प्रभावित करने के साथ ही साथ उसके सामाजिक रूप को भी आकार प्रदान करते हैं। कई विद्वानों ने जन-परिवहन पर आधारित नगर जैसे लंदन अथवा न्यूयॉर्क तथा वे नगर जो निजी परिवहन पर मुख्यत: निर्भर करते हैं, जैसे लॉस एंजेल्स, के अंतर पर काफी कुछ लिखा है। यह देखा जाना बाकी है, उदाहरण के लिए दिल्ली की नयी मेट्रो रेल इस शहर के सामाजिक जीवन में कितना परिवर्तन ला रही

है। परंतु मुख्य मुद्दा, जो नगरों के सामाजिक परिवर्तन से संबंधित है वह है तीव्र गति से नगरीकरण की ओर अग्रसित भारत जैसे देश, यहाँ जो ध्यान देने की बात होगी वह यह कि नगर जनसंख्या में लगातार वृद्धि के आगे किस तरह से टिक सकेंगे, विशेष तौर पर जब प्रवासियों द्वारा यहाँ की जनसंख्या की प्राकृतिक वृद्धि सघन हो रही है।

शब्दावली

सीमा शुल्क (आयात कर)—किसी देश में वस्तुओं के आने और जाने पर लगाया जाने वाला कर, इससे वस्तु का मूल्य बढ़ जाता है और इसकी तुलना में स्वउत्पादित वस्तुओं की इससे प्रतियोगिता कम हो जाती है।

प्रभुत्व जातियाँ—इस शब्द को देने का श्रेय एम.एन. श्रीनिवास को जाता है। इसमें वे जमींदार बिचौली जातियाँ आती हैं जो संख्या में अधिक होने के कारण अपने क्षेत्र में राजनीतिक प्रभुतासंपन्न होती हैं।

संरक्षित समुदाय—नगरीय क्षेत्रों में (सामान्यत: उच्च अथवा संपन्न वर्ग) अपने चारों ओर एक घेराबंदी कर लेते हैं जिससे आने-जाने पर नियंत्रण रखा जा सके।

भद्रीकरण (जैंट्रीफिकेशन)—इस शब्द का प्रयोग निम्न वर्ग (नगर) प्रतिवेश का मध्यम अथवा उच्चवर्गीय प्रतिवेश में बदल जाने के लिए किया जाता है।

घैटो, घैटोकरण—सामान्यत: यह शब्द मध्य यूरोपीय शहरों में यहूदियों की बस्ती के लिए प्रयोग किया जाता है। आज के संदर्भ में यह विशिष्ट धर्म, नृजाति, जाति या समान पहचान वाले लोगों के साथ रहने को इंगित करता है। घैटोकरण की प्रक्रिया में मिश्रित विशेषताओं वाले पड़ौस के स्थान पर एक समुदाय पड़ौस में बदलाव का होना है।

वैधता—वैधानिक बनाने की प्रक्रिया अथवा किसी आधार पर किसी वस्तु को वैध मानना जैसे—संगत, सही, न्यायिक, ठीक इत्यादि।

समूह संक्रमण (मास ट्रांजिट)—शहरों में आवागमन का साधन जिसमें बड़ी संख्या में लोगों का आना-जाना होता है।

जन परिवहन—तीव्र गति से चलने वाले परिवहन के साधन जिससे लोग अधिक संख्या में सफर कर सकें।

अभ्यास

1. क्या आप इस बात से सहमत हैं कि तीव्र सामाजिक परिवर्तन मनुष्य के इतिहास में तुलनात्मक रूप से नवीन घटना है? अपने उत्तर के लिए कारण दें।
2. सामाजिक परिवर्तन को अन्य परिवर्तनों से किस प्रकार अलग किया जा सकता है?

3. संरचनात्मक परिवर्तन से आप क्या समझते हैं? पुस्तक से अलग उदाहरणों द्वारा स्पष्ट कीजिए।
4. पर्यावरण संबंधित कुछ सामाजिक परिवर्तनों के बारे में बताइए।
5. वे कौन से परिवर्तन हैं जो तकनीक तथा अर्थव्यवस्था द्वारा लाए गए हैं?
6. सामाजिक व्यवस्था का क्या अर्थ है तथा इसे कैसे बनाए रखा जा सकता है?
7. सत्ता क्या है तथा यह प्रभुता तथा कानून से कैसे संबंधित है?
8. गाँव, कस्बा तथा नगर एक दूसरे से किस प्रकार भिन्न हैं?
9. ग्रामीण क्षेत्रों की सामाजिक व्यवस्था की कुछ विशेषताएँ क्या हैं?
10. नगरी क्षेत्रों की सामाजिक व्यवस्था के सामने कौन सी चुनौतियाँ हैं?

संदर्भ

गिडेंस, एंटनी. 2002. सोशयोलॉजी (चौथा संस्करण)

गर्थ, हैंस तथा सी.राईट मिल्स (संपा.) फ्रॉम मैक्स वेबर।

खिलनानी, सुनील. 2002. द *आइडिया ऑफ़ इंडिया*, पेंगविन बुक्स, नयी दिल्ली।

पटेल, सुजाता तथा कुशलदेव (संपा.). 2006. *अर्बन सोशयोलॉजी* (ऑक्सफोर्ड इन इंडिया रीडिंग्स इन सोशयोलॉजी एंड एंथ्रोपॉलोजी सीरीज़) ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली।

श्रीनिवास एम.एन. *सोशल चेंज इन मॉडर्न इंडिया।*

© NCERT not to be republished

अध्याय 3

पर्यावरण और समाज

अपने चारों ओर देखिए। आपको क्या दिखाई देता है? अगर आप कक्षा में हैं तो आप देखेंगे कि विद्यार्थी स्कूल की वर्दी में कुर्सियों पर बैठे हैं और सामने उनकी मेज़ पर पुस्तकें खुली हुई हैं। उनके बैग में खाने का डिब्बा और पेंसिल–बॉक्स होता है। कमरे की छत पर पंखा चलता रहता है। क्या आपने कभी सोचा है कि ये सभी वस्तुएँ– स्कूल की वर्दी, फर्नीचर, बैग, बिजली इत्यादि कहाँ से आती हैं? अगर आप इन वस्तुओं के स्रोत को ढूँढ़ें तो पाएँगे कि ये सारी वस्तुएँ हमें प्रकृति से प्राप्त होती हैं। प्रतिदिन हम उन वस्तुओं का उपयोग करते हैं जिनके उत्पादन में दुनिया भर के प्राकृतिक संसाधनों का उपयोग किया जाता है। आपकी कक्षा की कुर्सियों के निर्माण में शायद लकड़ी, कीलें, गोंद और वार्निश का उपयोग किया गया हो। इस कुर्सी को आपकी कक्षा तक पहुँचाने की यात्रा जंगल के किसी पेड़ से शुरू होती है जो अन्य कई चीज़ों पर निर्भर करती है; जैसे–बिजली, डीजल तथा व्यापार और संचार की सुविधाएँ। इसके अतिरिक्त रास्ते में कई अन्य व्यक्तियों तथा संस्थाओं की सहायता से यह आप तक पहुँचता है; जैसे–लकड़ी काटने वाले, कारीगर, सुपरवाइजर, प्रबंधक, वाहन चालक, व्यापारी तथा वे लोग जिन पर स्कूल के फर्नीचर को खरीदने की ज़िम्मेदारी होती है। ये उत्पादक तथा वितरक कुर्सी के निर्माण से संबंधित तथ्यों को ध्यान में रखते हुए विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का प्रयोग करते हैं जो प्रकृति से प्राप्त की जाती हैं। इन संसाधन चक्रों को समझने की कोशिश कीजिए और आप पाएँगे कि इनके संबंध परस्पर कितने जटिल हैं!

इस अध्याय में हम पर्यावरण के परिप्रेक्ष्य में सामाजिक संबंधों का अध्ययन करेंगे जिनमें समय के साथ काफी परिवर्तन आया है क्योंकि स्थान–स्थान पर इनमें भिन्नता पाई जाती है। यह अत्यंत आवश्यक है कि ऐसे परिवर्तनों को एक क्रमबद्ध रूप में समझा तथा देखा जाए। आज हमारे समक्ष कई पर्यावरण संबंधी समस्याएँ हैं जिन पर हमें ध्यान देने की आवश्यकता है। इस संकट की स्थिति से उबरने के लिए, हमें समाजशास्त्रीय रूपरेखा के अंतर्गत ये समझने की आवश्यकता है कि ये क्यों घटित होते हैं तथा इन्हें कैसे रोका जा सकता है अथवा इसका क्या हल हो सकता है।

पारिस्थितिकी (Ecology) प्रत्येक समाज का आधार होती है। 'पारिस्थितिकी' शब्द से अभिप्राय एक ऐसे जाल से है जहाँ भौतिक और जैविक व्यवस्थाएँ तथा प्रक्रियाएँ घटित होती हैं और मनुष्य भी इसका एक अंग होता है। पर्वत तथा नदियाँ, मैदान तथा सागर और जीव-जंतु ये सब पारिस्थितिकी के अंग हैं। किसी स्थान की पारिस्थितिकी पर वहाँ के भूगोल तथा जलमंडल की अंत:क्रियाओं का भी प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिए, मरुस्थलीय प्रदेशों में रहने वाले जीव-जंतु अपने आपको वहाँ की परिस्थितियों के अनुरूप; जैसे—कम वर्षा, पथरीली अथवा रेतीली मिट्टी तथा अत्यधिक तापमान में अपने आपको ढाल लेते हैं। इसी प्रकार पारिस्थितिकीय कारक इस बात का निर्धारण करते हैं कि किसी स्थान विशेष पर लोग कैसे रहेंगे।

किंतु समय के साथ-साथ **मनुष्य की क्रियाओं** द्वारा पारिस्थितिकी में परिवर्तन आया है। अगर ध्यानपूर्वक देखें तो हम पाएँगे कि पर्यावरण के प्राकृतिक कारक जैसे—अकाल या बाढ़ की स्थिति आदि की उत्पत्ति भी मानवीय हस्तक्षेप के कारण होती है। नदियों के ऊपरी क्षेत्र में जंगलों की अंधाधुंध कटाई नदियों में बाढ़ की स्थिति को और बढ़ा देती है। पर्यावरण में मनुष्य के हस्तक्षेप का एक अन्य उदाहरण विश्वव्यापी तापमान वृद्धि के कारण जलवायु में आनेवाला परिवर्तन भी है। समय के साथ पारिस्थितिकीय परिवर्तन के लिए, कई बार प्राकृतिक तथा मानवीय कारणों को अलग करना तथा उस में अंतर करना काफी कठिन होता है।

क्रियाकलाप 1

क्या आप जानते हैं कि रिज़ इलाके के जंगल (Ridge Forest) में पाई जाने वाली वनस्पति (Vegetation) क्षेत्रीय नहीं है बल्कि अंग्रेजों द्वारा लगभग सन् 1915 में लगाई गई थी? यहाँ मुख्य रूप से विलायती कीकर अथवा विलायती बबूल के वृक्ष पाए जाते हैं जो दक्षिणी अमेरिका से लाकर यहाँ लगाए गए थे और अब संपूर्ण उत्तरी भारत में प्राकृतिक रूप से पाए जाते हैं।

क्या आप जानते हैं कि 'चोरस'- जहाँ उत्तराखंड स्थित कॉरबेट नैशनल पार्क के वन्य जीवन की अद्भुत छटा को देखा जा सकता है, कभी वहाँ किसान खेती किया करते थे। इस क्षेत्र के गाँवों को पुनर्स्थापित किया गया है ताकि यहाँ वन्य जीवन को अपने प्राकृतिक रूप में देखा जा सके।

क्या आप कुछ ऐसे उदाहरण बता सकते हैं जहाँ 'प्राकृतिक' रूप से देखी जाने वाली चीज वास्तव में मनुष्य के सांस्कृतिक हस्तक्षेप का उदाहरण हो?

साथ ही जैवभौतिक संपदा और प्रक्रिया में जहाँ मनुष्य के हस्तक्षेप के कारण परिवर्तन देखा गया—उदाहरण के तौर पर नदी का बहाव तथा वनों में जीव-जन्तुओं का संयोजन, वहीं दूसरी ओर हमारे चारों ओर कुछ ऐसे तत्व भी हैं जो पूरी तरह से मनुष्य द्वारा निर्मित हैं। कृषि भूमि जहाँ मिट्टी तथा पानी के बचाव के कार्य चल रहे हों, खेती और पालतू पशु, कृत्रिम खाद तथा कीटनाशक का प्रयोग—यह सब स्पष्ट रूप से मनुष्य द्वारा प्रकृति में किया गया परिवर्तन है। शहर के निर्माण में प्रयुक्त सीमेंट, ईंट, कंक्रीट, पत्थर, शीशा और

बाँध

छोटा बाँध या साधारण बाँध

तार हालाँकि प्राकृतिक संसाधन हैं परंतु फिर भी ये मनुष्य की कलाकृति के उदाहरण हैं।

सामाजिक पर्यावरण का उद्‌भव जैवभौतिक पारिस्थितिकी तथा मनुष्य के हस्तक्षेप की अन्त:क्रिया के द्वारा होता है। यह दो–तरफा प्रक्रिया है। जिस प्रकार से प्रकृति समाज को आकार देती है ठीक उसी प्रकार से समाज भी प्रकृति को आकार देता है। उदाहरण के तौर पर,

> ब्रिटेन में औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप होने वाले पारिस्थितिकी परिणामों को पूरी दूनिया में महसूस किया गया। उत्तरी अमेरिका तथा कैरिबियन के बृहत दक्षिणी भागों को बड़े-बड़े बागान क्षेत्रों में परिवर्तित कर दिया गया ताकि लंकाशायर की सूती मिलों की माँग की पूर्ति होती रहे। पश्चिमी अफ्रीका के युवा व्यक्तियों को ज़बरदस्ती अमेरिका भेजा जाता था ताकि वे दास के रूप में इन बागानों में काम कर सकें। इस तरह से अफ्रीका में जनसंख्या की कमी से वहाँ की कृषि अर्थव्यवस्था का पतन प्रारंभ हुआ और चरागाह बंजर भूमि में बदल गए। ब्रिटेन में कारखानों से निकलने वाले धुएँ के कारण वहाँ की वायु प्रदूषित हो गई। काम की तलाश में गाँव से शहरों की ओर आने वाले किसान तथा मजदूर अत्यंत दीन अवस्था में अपना निर्वाह करते थे। सूती कपड़ा मिलों के पारिस्थितिकी के प्रभावों को संपूर्ण नगर तथा ग्रामीण परिवेश में आसानी से देखा जा सकता है।

सिंधु-गंगा के बाढ़ के मैदान की उपजाऊ भूमि गहन कृषि के लिए उपयुक्त है। इसकी उच्च उत्पादक क्षमता के कारण यह घनी आबादी का क्षेत्र बन जाता है तथा अतिरिक्त उत्पादन और गैर कृषि क्रियाकलाप आगे चलकर जटिल अधिक्रमिक समाज तथा राज्य को जन्म देते हैं। ठीक इसके विपरीत, राजस्थान के मरुस्थल केवल पशुपालकों को ही सहारा देते हैं जो अपने पशुओं के चारे की खोज में एक स्थान से दूसरे स्थान तक भटकते रहते हैं। यह एक उदाहरण है कि किस प्रकार पारिस्थितिकी मनुष्य के जीवन तथा उसकी संस्कृति को आकार देती है। वहीं दूसरी तरफ पूँजीवादी सामाजिक संगठनों ने विश्वभर की प्रकृति को आकार दिया है। निजी परिवहन पूँजीवादी वस्तु का एक ऐसा उदाहरण है जिसने जीवन तथा भू-दृश्य को बदला है। शहरों में वायु प्रदूषण तथा भीड़भाड़, प्रादेशिक झगड़े, तेल के लिए युद्ध तथा विश्वव्यापी तापमान वृद्धि आदि पर्यावरण पर होने वाले प्रभावों के कुछ एक उदाहरण हैं। बढ़ता हुआ मानवीय हस्तक्षेप पर्यावरण को पूरी तरह से बदलने में सक्षम है।

सामाजिक संगठन के द्वारा पर्यावरण तथा समाज की अन्त:क्रिया को आकार प्रदान किया जाता है। संपत्ति के संबंध यह निर्धारित करते हैं कि कैसे तथा किसके द्वारा प्राकृतिक संसाधनों का उपयोग किया जाएगा। उदाहरण के लिए, यदि वनों पर सरकार का आधिपत्य है तो यह अधिकार भी उसे ही होगा कि वह यह निर्णय ले कि क्या वह इसे पट्टे पर किसी लकड़ी के कारोबार करने वाली कंपनी को देना चाहेगी अथवा ग्रामीणों को जंगलों से प्राप्त होने वाले वन्य उत्पादों को संग्रहित करने का अधिकार देगी। भूमि तथा जल संसाधन का व्यक्तिगत स्वामित्व इस बात का निर्धारण करेंगे कि क्या अन्य लोगों को इन संसाधनों के उपयोग का अधिकार होगा और यदि हाँ, तो किन नियमों तथा शर्तों के अंतर्गत? संसाधनों पर नियंत्रण तथा स्वामित्व, श्रम विभाजन और उत्पादन प्रक्रिया से संबंधित है। कृषिहीन मजदूरों एवं स्त्रियों का प्राकृतिक संसाधनों से संबंध पुरुषों की तुलना में भिन्न होता है। ग्रामीण भारत में स्त्रियाँ संसाधनों की कमी से ज़्यादा प्रभावित होती हैं क्योंकि ईंधन तथा पानी लाने

© NCERT not to be republished

का काम स्त्रियों का ही होता है लेकिन, फिर भी इन संसाधनों पर इनका कोई नियंत्रण नहीं होता है। विभिन्न सामाजिक समूह किस प्रकार अपने आपको पर्यावरण से जोड़ते हैं; सामाजिक संगठन इसे किस हद तक प्रभावित करते हैं।

पर्यावरण तथा समाज के मध्य संबंध उसके **समाजिक मूल्यों तथा प्रतिमानों** के साथ ही उनके ज्ञान की व्यवस्था में भी प्रतिबिंबित होते हैं। पूँजीवादी मूल्यों ने प्रकृति के उपयोगी वस्तु होने की विचारधारा को पोषित किया है जहाँ प्रकृति को एक वस्तु के रूप मे परिवर्तित कर दिया गया है जिसे लाभ के लिए खरीदा या बेचा जा सकता है। उदाहरणार्थ, नदी के बहुविकल्पीय सांस्कृतिक अर्थों; जैसे—पारिस्थितिकीय, उपयोगितावादी, धार्मिक तथा सौंदर्यपरकता के महत्व को समाप्त कर इसे मात्र एक उद्यमकर्ता के लिए पानी को हानि या लाभ की दृष्टि से बेचने का कारोबार बना दिया है। समानता तथा न्याय के समाजवादी मूल्यों ने कई देशों में बड़े-बड़े ज़मींदारों से उनकी ज़मीनों को छीन उन्हें पुनः भूमिहीन किसानों में बाँट दिया है। धार्मिक मूल्य धार्मिक हितों तथा विभिन्न किस्मों को संरक्षण दे सकें तथा अन्य वर्ग यह मान सकें कि उन्हें अपने हितों के लिए पर्यावरण में परिवर्तन करने का दैवीय अधिकार प्राप्त है।

पर्यावरण तथा समाज के संबंधों को कई भिन्न परिप्रेक्ष्यों में देखा जा सकता है। इन भिन्नताओं के अंतर्गत 'प्रकृति-पोषण' विवाद तथा व्यक्तिगत विशेषताएँ होती हैं जो पारिवेशिक कारकों से प्रभावित होती हैं या आती हैं। उदाहरणार्थ, क्या व्यक्ति गरीब इसलिए होते हैं क्योंकि वे सहज रूप से कम गुणी या कम मेहनती होते हैं अथवा

भोपाल औद्योगिक दुर्घटना : जिम्मेदार कौन?

3 दिसंबर 1984 की रात, भोपाल में जानलेवा गैस से 4,000 लोगों की मृत्यु तथा 200,000 व्यक्ति हमेशा के लिए अपंग हो गए। बाद में पता चला कि यह गैस मिथाइल आईसोसाइनेट (MIC) थी जो गलती से यूनियन कार्बाइड कीटनाशक फैक्ट्री से शहर में फैली थी। विज्ञान तथा पर्यावरण केंद्र ने अपने *स्टेट ऑफ इंडियाज ऐनवायरनमेंट: द सेकेन्ड सीटीजन्स रिपोर्ट* (State of India's Environment: The second citizen's report) में इस दुर्घटना के कारणों की जाँच की।

यूनियन कार्बाइड कंपनी का भोपाल में सन् 1977 में ज़ोरदार स्वागत किया गया क्योंकि इसका सीधा अर्थ था भोपाल वासियों के लिए नौकरी तथा देश के लिए विदेशी मुद्रा की बचत, हरित क्रांति के कारण कीटनाशक की माँग में आई वृद्धि। एम.आई.सी. प्लांट प्रारंभ से ही कठिनाइयों से भरा हुआ था और कई बार वहाँ से गैस रिस चुकी थी तथा जिसमें इस भीषण विनाश के पहले एक गैस ऑपरेटर की मृत्यु भी हो चुकी थी। लेकिन दूसरी तरफ सरकार ने तत्परतापूर्वक इन चेतावनियों को नज़रअंदाज कर दिया जिनमें प्रमुख था भोपाल म्युनिसिपल कॉरपोरेशन द्वारा यूनियन कार्बाइड को 1970 के दशक के अंत में भोपाल से बाहर निकल जाने वाला नोटिस दिया गया। इसके बाद उस अधिकारी का स्थानान्तरण हो गया तथा कंपनी ने कॉरपोरेशन को 25,000 रुपए की राशि पार्क के निर्माण हेतु दान में दी।

© NCERT not to be republished

चेतावनियाँ आती रहीं। मई 1982 में यूनियन कार्बाइड कॉरपोरेशन, अमेरिका के तीन कर्मचारियों ने यहाँ आकर इस कारखाने की सुरक्षा व्यवस्था का सर्वेक्षण कर उससे संबंधित कई महत्त्वपूर्ण कमियों को उजागर किया। स्थानीय साप्ताहिक पत्रिका *रपट* में इन तथ्यों को प्रकाशित किया गया जिसे 1982 तक भविष्यबोधक या पैगम्बरी लेखमाला समझा गया। इसी दौरान कारखाने की कर्मचारी यूनियन ने केंद्रीय मंत्रियों तथा मुख्यमंत्री को इन परिस्थितियों से आगाह करते हुए पत्र लिखे। राज्य श्रममंत्री ने विधायकों को कई बार आश्वासन दिया कि कारखाना पूरी तरह सुरक्षित है। इस दुर्घटना के केवल कुछ सप्ताह पूर्व फैक्ट्री को राज्य प्रदूषण कंट्रोल बोर्ड से पर्यावरण निकासी प्रपत्र प्रदान किया गया था। केंद्र सरकार ने राज्य सरकार को इस विषय पर उनके ढुलमुल रवैये के लिए आड़े हाथों लिया। राज्य ने इसे अनुमति देकर न केवल प्लांट की सुरक्षा के अभिलेखों का उल्लंघन किया बल्कि दूसरी ओर पर्यावरण विभाग के नियमों की भी अनदेखी की।

इन नियमों तथा चेतावनियों की अनदेखी क्यों की गई यह साफ है। इस कंपनी ने शक्तिशाली नेताओं तथा नौकरशाहों के रिश्तेदारों को अपने यहाँ नौकरी दी थी। इसका कानूनी सलाहकार एक महत्त्वपूर्ण नेता था और इसका जनसंपर्क अधिकारी एक भूतपूर्व नेता का भतीजा था। कंपनी का भव्य अतिथिग्रह हमेशा नेताओं के लिए खुला रहता था। ऐसा कहा जाता है कि मुख्यमंत्री की पत्नी ने अपने अमेरिका प्रवास के दौरान कंपनी के भव्यतम स्वागत-सत्कार का लाभ उठाया था। इतना ही नहीं कंपनी ने डेढ़ लाख की राशि मुख्यमंत्री के शहर में होने वाले कल्याणकारी कार्यों के लिए प्रदान की।

यूनियन कार्बाइड कॉरपोरेशन ने भी इस विनाश में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। भोपाल प्लांट की रूपरेखा ठीक नहीं थी तथा सुरक्षा के स्तर पर इसमें काफी कमियाँ थीं। इनमें कंप्यूटरीकृत अग्रिम चेतावनी व्यवस्था नहीं थी, जो कि अमेरिका में स्थित कंपनी के प्रत्येक प्लांट का एक अनिवार्य हिस्सा थी। कंपनी ने वहाँ के निवासियों के साथ मिलकर आपातकालीन स्थिति में फैक्ट्री से लोगों को किस प्रकार निकाला जाएगा, इस पर कोई कार्य नहीं किया था। न तो प्लांट की उचित देखभाल की गई थी और न ही उसे दक्षतापूर्वक चलाया जा रहा था। कर्मचारियों का मनोबल घट गया था क्योंकि प्लांट घाटे में चल रहा था और विक्रय काफी गिर गया था। यह अपनी क्षमता के तीसरे स्तर पर कार्य कर रही थी। कर्मचारियों की संख्या में कटौती की गई और कई अभियंता तथा ऑपरेटरों ने काम छोड़ दिया। इससे बचे हुए लोगों द्वारा सभी कार्य करना असंभव था। कई मशीनें कार्य न करने की स्थिति में पड़ी थीं।

विचार-विमर्श—वे कौन सी सामाजिक संस्थाएँ तथा संगठन हैं जो कारखानों में होने वाली दुर्घटनाओं (जैसी भोपाल में हुई थी) में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं? इस तरह की दुर्घटनाओं को भविष्य में रोकने के लिए क्या कदम उठाए जा सकते हैं?

स्रोत: स्टेट आफ इंडियन एनवायरनमैंट; द सैकिंड सिटिजन्स रिपोर्ट, द सेंटर फॉर साइंस एंड एनवायरनमैंट एनालाइज़्ड द रीजंस बिहाइंड द डिज़ास्टर।

उनका जन्म अच्छी परिस्थितियों में न हुआ हो या फिर उन्हें उचित मौका न मिला हो? पर्यावरण तथा समाज के बारे में सिद्धांत तथा आँकड़े उन समाजिक परिस्थितियों से प्रभावित होते हैं जिनसे उनका प्रादुर्भाव होता है अत: इस मान्यता को कि स्त्रियाँ पुरुषों की तुलना में कम योग्य होती हैं और

काले लोग श्वेतों की तुलना में कम योग्य होते हैं—सामाजिक तथा राजनीतिक परिवर्तनों के कारण 18वीं शताब्दी में चुनौती मिली क्योंकि 'समानता' की विचारधारा का चारों ओर प्रचार-प्रसार हुआ। साम्राज्यवाद ने पर्यावरण तथा समाज से संबधित ज्ञान का प्रसार किया और अधिकांशतः इसे क्रमबद्ध तरीके से संकलित किया ताकि ये संसाधन साम्राज्यवादी ताकतों को उपलब्ध होते रहें। साम्राज्यवादी ज़रूरतों को ध्यान में रखते हुए कई नए विषय तैयार किए गए यथा—भूगोल, जीव विज्ञान, वनस्पति, वानिकी, भूगर्भ विज्ञान तथा द्रवचालित अभियांत्रिकी। इतना ही नहीं इन विषयों को मात्र तैयार ही नहीं किया गया बल्कि इन्हें संस्थागत रूप में तैयार किया गया ताकि ये साम्राज्यवादी आवश्यकताओं के लिए प्राकृतिक संसाधनों के प्रबंधन को आसान बना सकें।

पर्यावरण प्रबंधन हालाँकि एक कठिन कार्य है। हमारे पास इन जैव भौतिक प्रक्रियाओं के पूर्वानुमान तथा उसे रोकने के बारे में अधिक जानकारी नहीं है। इसके साथ ही साथ पर्यावरण के साथ मनुष्य के संबंध और अधिक जटिल हो गए हैं। बढ़ते औद्योगीकरण के कारण संसाधनों का दोहन बड़े पैमाने पर अत्यंत तीव्र गति से हो रहा है। जिसने पारिस्थितिकी तंत्र को कई तरह से प्रभावित किया है। जटिल औद्योगिक तकनीक तथा संगठन की व्यवस्थाओं के लिए बेहतरीन प्रबंधन व्यवस्था की जरूरत होती है जो अधिकांशतः गलतियों के प्रति कमजोर तथा सुभेद्य होते हैं। आज हम **जोखिम भरे समाज** में रहते हैं जहाँ ऐसी तकनीकों तथा वस्तुओं का हम प्रयोग करते हैं जिसके बारे में हमें पूरी समझ नहीं है। नाभिकीय विपदा; जैसे—चेरनोबिल, भोपाल की औद्योगिक दुर्घटना, योरोप में फैली 'मैड काऊ' बीमारी, औद्योगिक पर्यावरण में होने वाले खतरों को दिखाते हैं।

पर्यावरण की प्रमुख समस्याएँ और जोखिम

वैसे तो पर्यावरण से संबंधित समस्याएँ प्रत्येक देश तथा परिप्रेक्ष्य में बदलती रहती हैं लेकिन निम्नलिखित समस्याएँ ऐसी हैं जिन्हें सार्वभौमिक रूप से स्वीकार किया गया है। ये हैं—

(अ) संसाधनों की क्षीणता (कमी)

अस्वीकृत प्राकृतिक संसाधनों का प्रयोग करना पर्यावरण की एक गंभीर समस्या है। वैसे तो आए दिन जैव ऊर्जा मुख्यतः पेट्रोलियम की कमी ही समाचार पत्रों में दिखाई देती है लेकिन ध्यानपूर्वक देखा जाए तो पानी तथा भूमि में क्षीणता बहुत तेज़ गति से आ रही है या यूँ कहें कि वे समाप्ति के कगार की तरफ तीव्र गति से बढ़ रहे हैं। भूजल के स्तर में लगातार कमी वैसे तो पूरे भारत में है परन्तु मुख्य रूप से पंजाब, हरियाणा और उत्तर प्रदेश में स्पष्ट देखी जा सकती है। जहाँ पानी हज़ारों लाखों साल से लगातार जमा होता रहा है, कुछ ही दशकों में कृषि, उद्योग तथा शहरी केंद्रों की बढ़ती माँगों के कारण खत्म होता जा रहा है। नदियों के बहाव को मोड़े जाने के कारण जल बेसिन को जो क्षति पहुँची है उसकी भरपाई नहीं हो सकती। शहरों के जलाशय भर दिए गए हैं और वहाँ निर्माण कार्य होने के कारण प्राकृतिक निकासी के साधनों को नष्ट किया जा रहा है।

वनोन्मूलन

भूजल की ही तरह मृदा की ऊपरी परत का निर्माण भी हज़ारों सालों में होता है। यह महत्त्वपूर्ण कृषि संसाधन भी पर्यावरण के कुप्रबंधन; जैसे–भू कटाव, पानी का जमाव तथा खारेपन के कारण नष्ट होते जा रहे हैं। भवन-निर्माण के लिए ईंटों का उत्पादन भी मृदा की ऊपरी सतह के नाश के लिए ज़िम्मेदार है।

जैविक विविधता वाले आवास; जैसे–जंगल, घास के मैदान और आर्द्रभूमि आदि अन्य मुख्य संसाधन हैं जो बढ़ती कृषि भूमि के कारण समाप्ति के कगार पर खड़े हैं। हालाँकि विश्व के विभिन्न हिस्सों में, भारत सहित, कुछ वनरोपण किए गए हैं जिसके कारण हाल के कुछ दशकों में वनस्पति के स्तर में बढ़ोत्तरी हुई है लेकिन फिर भी रुझान नुकसान की ओर ही है। इन आवासों की बढ़ती कमी कई वन्यजीवों की किस्मों के लिए खतरा है। आपने हाल ही में सुना होगा कि इतने सख्त कानूनों तथा इतने बड़े अभ्यारण्यों के बावजूद बाघों की जनसंख्या में गिरावट आई है।

(ब) प्रदूषण

ग्राामीण तथा शहरी इलाकों में **वायु प्रदूषण** एक मुख्य समस्या मानी जा रही है जिससे श्वास तथा सेहत संबंधी दूसरी बीमारियाँ तथा मृत्यु भी हो सकती है। वायु प्रदूषण के मुख्य स्रोत हैं–उद्योगों तथा वाहनों से निकलने वाली ज़हरीली गैसें तथा घरेलू उपयोग के लिए लकड़ी तथा कोयले का प्रयोग। हम सभी ने वाहनों तथा उद्योगों से होने वाले प्रदूषण के

औद्योगिक प्रदूषण

बारे में सुना है और चिमनियों तथा कार की पाइप से निकलते हुए धुएँ की तस्वीरें भी देखी हैं। लेकिन हम कभी यह महसूस नहीं कर पाते कि खाना बनाने वाला ईंधन भी आंतरिक प्रदूषण का स्रोत है। यह विशेषकर ग्रामीण घरों के लिए सच साबित होता है जहाँ खाना बनाने के लिए हरी-भरी लकड़ियों का प्रयोग, अनुपयुक्त चूल्हे तथा हवा के निष्कासन की अव्यवस्था इत्यादि ग्रामीण महिलाओं की सेहत पर बुरा असर डालते हैं। विश्व स्वास्थ्य संगठन की रिपोर्ट के अनुसार 2012 में करीब 70 लाख लोगों की मृत्यु का कारण वायु प्रदूषण था। पिछले अनुमान की तुलना में यह आँकड़ा दोगुना है और इस बात की पुष्टि करता है कि वायु प्रदूषण अब दुनिया का एकमात्र पर्यावरण संबंधी स्वास्थ्य जोखिम है। वायु प्रदूषण को कम करने से लाखों लोगों का जीवन बचाया जा सकता है। इसने वैज्ञानिकों को व्यापक जनसांख्यिकीय फैलाव से स्वास्थ्य संबंधी जोखिमों का अधिक विस्तृत विश्लेषण करने में सक्षम बनाया, जिसमें अब ग्रामीण और नगरीय क्षेत्रों को भी शामिल किया गया है। 2012 में 33 लाख लोगों की मृत्यु आंतरिक वायु प्रदूषण और 26 लाख लोगों की मृत्यु बाह्य वायु प्रदूषण से हुई।

जल प्रदूषण भी एक शोचनीय विषय है जिसने न केवल भूमि बल्कि भूमिगत जल को भी प्रभावित किया है। जल प्रदूषण के मुख्य स्रोत न केवल घरेलू नालियों और फैक्ट्री से निकलने वाले पदार्थ हैं बल्कि खेतों से निकलने वाला जल भी है जिसमें बड़ी मात्रा में कृत्रिम

स्रोत वेब लिंक– www.who.int/mediacentre/news/releases/2014/air-pollution/en/

बैंगन के खेत में कीटनाशक का छिड़काव

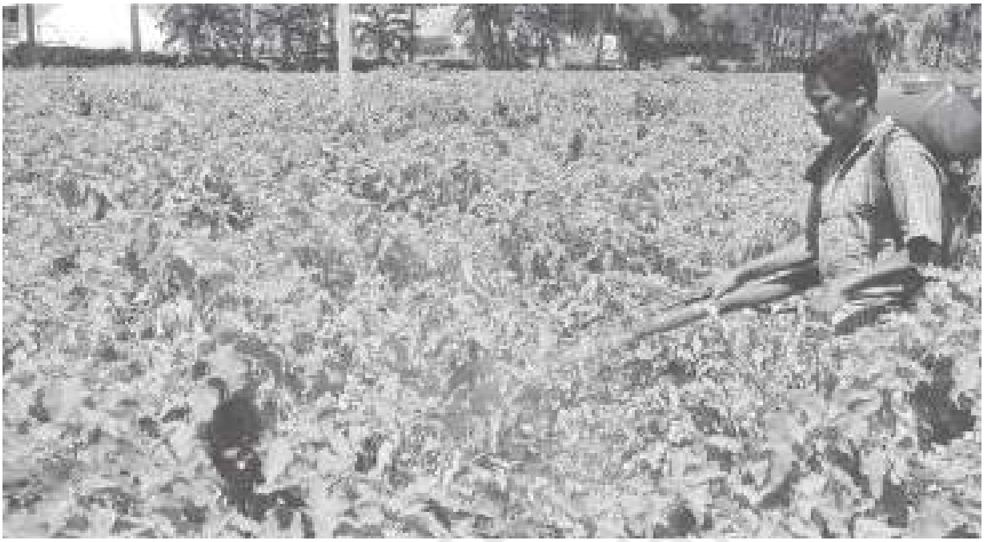

खाद तथा कीटनाशकों का इस्तेमाल किया जाता है। विशेषकर नदियों तथा जलाशयों का प्रदूषण इसकी मुख्य समस्या है।

शहर **ध्वनि प्रदूषण** से भी ग्रसित हैं और कई शहरों में यह मामला न्यायालयी आदेशों के अधीन है। इसके स्रोतों में धार्मिक तथा सामाजिक अवसरों पर उपयोग किए जाने वाले लाउडस्पीकर, राजनीतिक प्रचार, वाहनों के हॉर्न और यातायात तथा निर्माण उद्योग आदि हैं।

(स) वैश्विक तापमान वृद्धि (ग्लोबल वार्मिंग)

पृथ्वी द्वारा छोड़ी गई कुछ प्रमुख गैसें (कार्बन डाइऑक्साइड, मीथेन तथा अन्य गैसें) सूर्य की रोशनी को रोक कर तथा उसे वापस वायुमंडल में न जाने देकर 'ग्रीनहाउस' प्रभाव का निर्माण करती हैं। इससे विश्व के तापमान में परिवर्तन होने के कारण ध्रुवों के हिम की परतें पिघल रही हैं जिसके कारण समुद्र तल की ऊँचाई बढ़ती जा रही है। इससे समुद्रों के किनारों पर स्थित प्रदेश जल में निमग्न हो जाएँगे तथा पारिस्थितिक संतुलन पर भी असर पडेगा। 'ग्लोबल वार्मिंग' के परिणामस्वरूप जलवायु में उतार–चढ़ाव तथा अनियमितता का प्रभाव पूरी दुनिया में देखा जा सकेगा। चीन तथा भारत पूरी दुनिया में सबसे अधिक कार्बन तथा ग्रीनहाऊस से निकलने वाली गैसों में योगदान देने वाले देश हैं।

(द) जैनेटिकली मौडिफाइड आर्गेनिज़्म्स (Genetically modified Organisms)

वैज्ञानिक जीन–स्पेलिसिंग (Gene-splicing) की नयी तकनीकों के द्वारा एक प्रकार के गुणों

को दूसरे प्रकार में डालते हैं ताकि बेहतरीन गुणों से भरपूर वस्तु का निर्माण किया जा सके। उदाहरण के तौर पर, बैसिलस (Bacillus) के जीन को कपास की प्रजातियों में डाला गया है ताकि एक मुख्य कीटाणु 'बॉलवर्म' का उस पर कोई असर न हो। जैनेटिक मौडिफिकेशन (Genetic modification) का उपयोग कम समय में पैदावार अथवा फसल का आकार तथा उनकी समय सीमा को बढ़ाने के लिए भी किया जा सकता है। हालाँकि हमें लम्बे समय में इससे होने वाले प्रभाव की बहुत ही कम जानकारी है कि ऐसा भोजन खाने वालों, तथा पारिस्थितिकीय व्यवस्था पर इसका क्या असर पड़ सकता है। कृषि उद्योग में जैनेटिक मोडिफिकेशन के प्रयोग द्वारा किसान अनुर्वरक बीजों के निर्माण एवं उनके पुनः उपयोग से बच सकते हैं और साथ ही साथ उन्हें इस बात की गारंटी भी मिल सकती है कि वे उनकी गुणवत्ता बनाए रखेंगे ताकि किसान उन बीज़ों पर निर्भर रह सकें।

(य) प्राकृतिक तथा मानव-निर्मित पर्यावरण विनाश

यह अपने आप पूर्णरूपेण समझा जा सकने वाला कारण है। 1984 में भोपाल आपदा जिसमें यूनियन कार्बाइड फैक्ट्री से गैस रिसने के कारण 4000 व्यक्तियों की मृत्यु, और 2004 का सुनामी मानव-निर्मित पर्यावरण आपदा के उदाहरण हैं।

पर्यावरण की समस्याएँ समाजिक समस्याएँ क्यों हैं?

सामाजिक पर्यावरण की समस्याएँ **सामाजिक असमानता** के लिए कार्य करने वाले विभिन्न समूहों को किस प्रकार प्रभावित करती हैं। सामाजिक परिस्थिति तथा शक्ति बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करती है कि व्यक्ति अपने आपको पर्यावरण की आपदाओं से बचने या उस पर विजय प्राप्त करने के लिए किस हद तक जा सकता है। कुछ स्थितियों में उनके 'समाधान' वास्तव में पर्यावरण की असमानताओं को बढ़ा देते हैं। गुजरात राज्य के कुछ ज़िलों में, जहाँ पानी की बहुत कमी है, संपन्न किसानों ने अपने खेतों में उपजी नकदी फसलों की सिंचाई के लिए भू-जल प्राप्त करने हेतु काफी धन नलकूपों की गहरी खुदाई पर खर्च किया है। जब वर्षा नहीं होती है तब गरीब ग्रामीणों के कुएँ सूख जाते हैं तथा उनमें पीने तक के लिए पानी नहीं रहता है। ऐसे समय में संपन्न किसानों के लहलहाते खेत मानो गरीबों का मज़ाक उड़ा रहे होते हैं। कुछ पर्यावरण चिंतन कभी-कभी सार्वभौमिक चिंतन बन जाते हैं जब इनके संबंध किसी विशेष सामाजिक वर्ग से नहीं रह जाते। उदाहरणतः वायु प्रदूषण को कम करना अथवा जैव विविधता को संरक्षण देना सार्वजनिक हित का कार्य है। समाजशास्त्रीय समीक्षा यह दर्शाती है कि, किस प्रकार से सार्वजनिक प्राथमिकताएँ तय की जाती हैं तथा किस प्रकार इन्हें आगे बढ़ाया जाता है। सार्वभौमिक रूप से वे लाभदायक

नहीं भी हो सकते हैं। कभी–कभी जनहित के कार्यों की रक्षक नीतियाँ वास्तव में राजनीतिक तथा आर्थिक रूप से शक्तिशाली वर्गों के लाभ की रक्षा करती हैं अथवा गरीब तथा राजनीतिक रूप से कमज़ोर वर्गों को नुकसान पहुँचाती हैं। बड़े–बड़े बाँधों तथा उसके आस–पास के संरक्षित प्रदेशों से संबधित वाद–विवादों से पता चलता है कि जनहित के रूप में पर्यावरण बहस का एक ज्वलंत मुद्दा है।

सामाजिक पारिस्थितिकी की विचारधारा यह बताती है कि सामाजिक संबंध, मुख्य रूप से संपत्ति तथा उत्पादन के संगठन पर्यावरण की सोच तथा प्रयास को एक आकार देते हैं। भिन्न सामाजिक वर्ग भिन्न प्रकार से पर्यावरण संबंधित मामलों को देखते तथा समझते हैं। वन्य विभाग, जो ज़्यादा से ज़्यादा राजस्व प्राप्त करने हेतु अधिक मात्रा में बाँस का निर्माण उद्योग के लिए करेगा। वह इसे बाँस के टोकरे बनाने वाले कारीगर के बाँस के उपयोग से भिन्न रूप में देखेगा। इस अर्थ में उसका दृष्टिकोण कारीगर के दृष्टिकोण से अलग होगा हालांकि दोनों बाँस का प्रयोग कर रहे हैं। उनकी अपनी–अपनी रुचियाँ तथा विचारधाराएँ पर्यावरण संबंधी मतभेद उत्पन्न कर देती हैं। इस अर्थ में पर्यावरण संकट की जड़ें सामाजिक असमानताओं में देखी जा सकती हैं। इस प्रकार से पर्यावरण संबंधित समस्याओं को सुलझाने का एक तरीका पर्यावरण तथा समाज के आपसी संबंधों में परिवर्तन है और इसका अर्थ है विभिन्न समूहों के बीच संबंधों में परिवर्तन–पुरुष तथा स्त्री, ग्रामीण तथा शहरी लोग, ज़मींदार तथा मज़दूर। सामाजिक संबंधों में परिवर्तन विभिन्न ज्ञान व्यवस्थाओं और भिन्न ज्ञानतंत्र को जन्म देगा जो पर्यावरण का प्रबंधन सुचारू रूप से कर सकेगा।

> शाब्दिक रूप में सामाजिक पारिस्थितिकी 'सामाजिक' कैसे है– इस बात की समझ में हमने जिन तथ्यों को नज़अंदाज कर दिया है; वास्तव में आज की पारिस्थितिकी से संबंधित सारी समस्याएँ वहीं कहीं न कहीं गहरी दबी सामाजिक समस्याओं से उत्पन्न हुई हैं। आज की पारिस्थितिकी की समस्याएँ तब तक नहीं समझी जा सकती हैं, जब तक हम दृढ़तापूर्वक इन समस्याओं को सामाजिक ढाँचे से दूर नहीं कर लेते; तब तक सुलझाना तो दूर की बात है। इस बात को और बेहतर तरीके से समझने के लिए–आर्थिक, नृजातीय, सांस्कृतिक और लैंगिक मतभेद तथा अन्य बहुत से कारणों के साथ, आज हम जितनी समस्याओं का सामना कर रहें हैं पर्यावरण की व्यवस्था उसके केंद्र में स्थित है। इनके अतिरिक्त, उनसे भी जोकि प्राकृतिक विपदाओं के कारण उत्पन्न होते हैं।
>
> मुर्रे बुकचिन, राजनीतिक दार्शनिक तथा सामाजिक पारिस्थितिकी संस्था के संस्थापक।

सतत विकास

पारिस्थितिकी और अर्थव्यवस्था के बीच एक जटिल संबंध रहा है लेकिन एक बात निश्चित है कि जब तक दोनों के बीच संतुलन नही होगा तब तक मानवता का भविष्य बेरंग रहेगा। पिछले तीन सौ सालों से, जिस तरह से आर्थिक विकास ने प्रकृति को नियंत्रित करने और जनसंख्या के एक वर्ग को लाभ पहुँचाने के लिए बेरहमी से उसके शोषण पर ज़ोर दिया है, उससे हजारों

वनस्पति और जीव जन्तुओं की प्रजातियों के विलुप्त होने की संभावना बढ़ गई है। गैर नवीकरणीय ऊर्जा के प्रयोग पर ज़ोर और बड़ी संख्या में नई नस्लों की शुरुआत के कारण और औद्योगिक दुनिया की बढ़ती मांग को पूरा करने के लिए पारिस्थितिकी के क्षेत्र में बहुत तबाही हुई है। दुनिया भर में चिंता बढ़ रही है कि यदि प्राकृतिक संसाधनों की कमी और जैव विविधता के विलुप्त होने की वर्तमान गति कुछ समय तक इसी तरह चलती रही, तो भविष्य में आने वाली पीढ़ी को उसकी कीमत चुकानी होगी।

''सतत विकास'' वह विकास है जो भविष्य की ज़रूरतों को पूरा करने के लिए भविष्य की पीढ़ियों की क्षमता को जाने बिना वर्तमान की जरूरतों के साथ समझौता करता है। इसमें दो प्रमुख अवधारणाएँ शामिल हैं, जरूरतों की अवधारणा: विशेष रूप से दुनिया के गरीबों की आवश्यक जरूरतें जिनको अतिरिक्त प्राथमिकता दी जानी चाहिए, और वर्तमान और भविष्य की जरूरतों को पूरा करने के लिए पर्यावरण की क्षमता पर प्रौद्योगिकी और सामाजिक संगठन को राज्य द्वारा लगाई गई सीमाओं पर विचार करना चाहिए। (ब्रंडलैंड (Brundland) की रिपोर्ट, अक्टूबर 1987)

आज पूंजीवादी विकास का आधार खपत है। नई चीज़ों को लागू करने के लिए पुरानी चीज़ों को नष्ट करना होगा ताकि लोग लगातार नए औद्योगिक उत्पादों का उपभोग करते रहें। दुनिया में असमानता बढ़ रही है, विकास और आर्थिक समृद्धि की मात्रा कभी भी पर्याप्त नहीं होती है, क्योंकि आकांक्षा कभी समाप्त नहीं होती है। इसका मतलब यह है कि गरीब लोग हमेशा हाशिए पर रहते हैं क्योंकि उन्होंने अभी तक अपनी कोई श्रेणी नहीं बनाई है। बहादुरो, इस नई दुनिया में ऐसी विफलता के लिए अब कोई जगह नहीं है। यह योग्यतम के अस्तित्व के बारे में है जिस तरह से डार्विन इस के बारे में पागलनपन की हद तक चला गया था (असहिष्णु क्यों नहीं होना चाहिए? सुनीता नारायण 'डाउन टू अर्थ', 25 जनवरी 2016 में)

हम एक असमान दुनिया में रह रहे हैं जहाँ हम संसाधनों और अवसरों पर नियंत्रण करना चाहते हैं। जहाँ सामाजिक स्तरीकरण की मौजूदा व्यवस्था ने कुछ लोगों को पहले से ही उपलब्ध संसाधनों और अवसरों के अधिकांश भाग को नियंत्रित करने के आसान अवसर दिए हैं। हमें दुनिया को न केवल खुद के लिए अपितु आने वाली पीढियों तक के लिए सुरक्षित रखना है। हम न तो वर्तमान की जरूरतों से और न ही भविष्य की जरूरतों से अनजान हो सकते हैं। हमें ऐसे समाज का निर्माण करने की आवश्यकता है जहाँ लोग समान हैं; जहां संसाधनों का न्यायसंगत वितरण होता है; जहाँ लक्ष्य समावेशी विकास होता है लेकिन वह जो समावेशी है परंतु अनन्य नहीं है। यही हमें स्थायी बना देगा।

इन तथ्यों के प्रकाश में, संयुक्त राष्ट्रों के 193 सदस्यीय राज्यों के साथ वैश्विक सिविल सोसाइटी ने एक विचारशील प्रक्रिया के माध्यम से इसका नेतृत्व किया और 17 भूमंडलीय लक्ष्यों के साथ सतत विकास के 196 लक्ष्यों का विकास किया। इन लक्ष्यों को भूतपूर्व संयुक्त राष्ट्र महासचिव बान की मून ने अपनी भावनाओं में व्यक्त किया और कहा कि, ''कोई प्लान 'बी' नहीं हो सकता, क्योंकि कोई 'बी' ग्रह नहीं है''।

भगवान भारत को पश्चिमी देशों के तरीके के औद्योगीकरण से बचाए। आज पूरे विश्व को ब्रिटेन जैसे एक छोटे से द्वीपीय देश के आर्थिक साम्राज्यवाद ने जंजीरों में जकड़ दिया है। अगर 30 करोड़ जनसंख्या वाला देश वैसे ही आर्थिक शोषण को अपना ले तो यह पूरी दुनिया को टिड्डों की भांति खत्म कर देगा।

– महात्मा गाँधी

पिछले छह वर्षों की रिपोर्ट को देखने से पता चलता है कि आंध्र प्रदेश, कर्नाटक तथा महाराष्ट्र के हज़ारों किसानों ने कीटनाशक पीकर आत्महत्या कर ली। आखिर वे क्या कारण हैं जिनकी वजह से किसानों, जो ऐसे व्यक्ति हैं जिन्हें कृषि की अनियमितताएँ विरासत में मिलती हैं, ने इस तरह के उग्रतम कदम उठाए। पत्रकार पी. साईनाथ की खोजबीन यह दिखाती है कि किसानों की चिंताजनक स्थिति के लिए मुख्यत: दो कारण उत्तरदायी हैं, पहला–पर्यावरण का गलन तथा दूसरा आर्थिक कारण। कृषि की दशाएँ अत्यधिक खराब हो गई हैं क्योंकि किसान दुनिया के बाज़ारों के उतार-चढ़ाव के सीधे चपेट में आ चुके हैं और सरकार द्वारा छोटे किसानों को दी जाने वाली सहायता मुक्त बाज़ार नीतियों के तहत कम होती जा रही है। कपास की खेती करने वाले किसानों के लिए यह फसल ज़्यादा जोखिम, ज़्यादा-लाभ की स्थिति में आ गई है। कपास को सिंचाई की आवश्यकता होती है। लेकिन इसमें कीड़े लगने की संभावना सर्वाधिक होती है। अत: कपास की खेती करने वाले किसानों को सिंचाई तथा कीटनाशक में पूँजी लगाने की आवश्यकता होती है। ये दोनो ही वस्तुएँ आने वाले समय में काफ़ी कीमती हो गईं। पानी के लिए की जाने वाली ज़मीन की गहरी खुदाई ने जल स्तर को काफ़ी कम कर दिया है अत: किसानों को पानी के लिए और गहरी खुदाई करने की आवश्यकता होती है और किटाणुओं पर भी कीटनाशक दवाएँ बेअसर साबित हुई हैं। अत: किसानों को नित्य नए-नए कीटनाशकों की अधिक मात्रा में आवश्यकता पड़ती रहती है जिसके लिए वे साहूकार या व्यापारियों के पास जाते हैं जो उनको अत्यधिक ब्याज दर पर ऋण देते हैं। अगर पैदावर नष्ट हो जाती है तो किसान ऋण की रकम वापस नहीं कर पाते। इस कारण न तो वे अपने परिवार का पेट भर पाते हैं और न ही पारिवारिक ज़िम्मेदारियों; जैसे–बच्चों के शादी-विवाह को पूरा कर पाते हैं। सामाजिक तथा आर्थिक तबाही उन्हें कहीं का नहीं छोड़ती और अंत में आत्महत्या ही उनके पास एक मात्रा रास्ता बच जाता है।

क्रियाकलाप 2

पता कीजिए कि आपके परिवार में रोजाना कितना पानी इस्तेमाल किया जाता है। यह जानने का प्रयास कीजिए कि विभिन्न आय समूह के परिवारों में तुलनात्मक रूप से कितना पानी इस्तेमाल होता है। विभिन्न परिवार पानी के लिए कितना समय और पैसा खर्च करते हैं? परिवार में पानी भरने का काम कौन करता है? सरकार विभिन्न वर्ग के लोगों के लिए कितना पानी मुहैया करवाती है?

विचार विमर्शः पानी की कमी प्राकृतिक है या मानव–निर्मित? किन सामाजिक कारकों से तय होता है कि उसे विभिन्न उपभोक्ताओं में कैसे वितरित किया जाए? पानी को इस्तेमाल करने के विभिन्न तरीके कैसे विभिन्न सामाजिक समूहों को प्रभावित करते हैं?

जैसे–जैसे नगरों का विस्तार होता जा रहा है वैसे–वैसे स्थान के लिए मतभेद और बढ़ते जा रहे हैं। एक ओर जहाँ प्रवासी काम की तलाश में शहर आते हैं और कानूनी तौर पर रहने का सीमित स्थान उनके सामर्थ्य के बाहर होता है, वहीं दूसरी ओर वे सरकारी ज़मीन पर बसने के लिए मजबूर होते हैं। इस प्रकार की ज़मीन की माँग काफी बढ़ गई है ताकि समृद्ध वर्ग के लिए यहाँ बड़ी–बड़ी बहुमंजिली दुकानें, होटल तथा दर्शनीय स्थल बनाए जा सकें। परिणामस्वरूप गरीब मज़दूर तथा उनके परिवारों को शहरों से दूर निकाल फेंका गया तथा उनके घरों को तोड़ दिया गया। ज़मीन के अतिरिक्त हवा तथा पानी भी इस शहरी पर्यावरण में महत्त्वपूर्ण प्रतियोगी के रूप में उभर कर सामने आए हैं।

(संदर्भ–अमीता बावस्कर 'बिटवीन वायलेंस एंड डिज़ायरः स्पेस, पॉवर एंड आइडेंटिटी इन द मेकिंग ऑफ़ मैट्रोपोलिटन दिल्ली' *इन इंटरनेशनल सोशल साइंस जर्नल*, 175: 89–98, 2003)

विचार विमर्श–शहर में बसा गरीब वर्ग अकसर झुग्गियों में क्यों रहता है? वे कौन से सामाजिक समूह हैं जो शहरों में ज़मीन–ज़ायदाद तथा आवास को नियंत्रित करते हैं? वे कौन से सामाजिक कारक हैं जो व्यक्ति की जल तथा स्वच्छता की आपूर्ति को प्रभावित करते हैं?

क्रियाकलाप 3

कल्पना कीजिए कि आप 14–15 साल के झुग्गी–झोंपड़ी में रहने वाले लड़का / लड़की हैं। आपका परिवार क्या काम करता है और आप कैसे रहते हैं? अपनी दिनचर्या का वर्णन करते हुए उस पर एक छोटा निबंध लिखिए।

शब्दावली

आर्द्रता विज्ञान–जल तथा इसके प्रवाह का विज्ञान; अथवा किसी देश अथवा क्षेत्र के जल संसाधन का अध्ययन।

वनोन्मूलन–पेड़ों के काटे जाने के कारण जंगली क्षेत्र में कमी तथा अन्य कारणों के लिए भूमि अधिग्रहण, भूमि को कृषि के उपयोग में लेना।

ग्रीनहाउस–पौधों को जलवायु की अति, मुख्यतः अत्यधिक ठंड से बचाने हेतु ढँका हुआ ढाँचा; हरित गृह (गर्म घर भी कहा जाता है)। बाहर के मुकाबले अंदर का तापमान अधिक होता है।

उत्सर्जन : मनुष्य द्वारा प्रारंभ की गई प्रक्रिया के कारण छोड़ी गई गैसें; मुख्यतः उद्योगों तथा वाहनों के संदर्भ में।

© NCERT not to be republished

बहि:प्रवाही धारा : औद्योगिक प्रक्रिया के तहत अवशेष जो तरलीय रूप में होते हैं।

एक्यूफर्स–प्राकृतिक रूप से बनी भूमिगत संरचना जहाँ पानी जमा होता है।

मोनोकल्चर–पौधों का जीवन एक क्षेत्र विशेष में घटकर जब एक ही प्रकार का रह जाता है।

अभ्यास

1. पारिस्थितिकी से आपका क्या अभिप्राय है? अपने शब्दों में वर्णन कीजिए।
2. पारिस्थितिकी सिर्फ प्राकृतिक शाक्तियों तक ही सीमित क्यों नहीं है?
3. उस दोहरी प्रक्रिया का वर्णन करें जिसके कारण सामाजिक पर्यावरण का उद्‌भव होता है?
4. सामाजिक संस्थाएँ कैसे तथा किस प्रकार से पर्यावरण तथा समाज के आपसी रिश्तों को आकार देती हैं?
5. पर्यावरण व्यवस्था समाज के लिए एक महत्त्वपूर्ण तथा जटिल कार्य क्यों है?
6. प्रदूषण संबंधित प्राकृतिक विपदाओं के मुख्य रूप कौन-कौन से हैं?
7. संसाधनों की क्षीणता से संबंधित पर्यावरण के प्रमुख मुद्दे कौन-कौन से हैं?
8. पर्यावरण की समस्याएँ सामाजिक समस्याएँ भी हैं। कैसे? स्पष्ट कीजिए।
9. समाजिक पारिस्थितिकी से क्या अभिप्राय है?
10. पर्यावरण संबंधित कुछ विवादास्पद मुद्दे जिनके बारे में आपने पढ़ा या सुना हो उनका वर्णन कीजिए। (अध्याय के अतिरिक्त)

संदर्भ

सेंटर फॉर साइंस एंड एनवायरनमेंट. 1982. द *स्टेट ऑफ़ इंडियाज़ एनवायरनमेंट: द सिटिज़न्स रिपोर्ट.* सी.एस.ई., नयी दिल्ली।

डेविस, माइक. 2004. 'प्लैनेट ऑफ़ स्लम्स : अर्बन इनवॉल्यूशन एंड द इनफ़ॉरमल प्लोरिटेरियट' इन *न्यू लेफ्ट रिव्यू* 26:5-34।

डेविस, माइक. 2004. 'द पोलिटिकल इकोलॉजी ऑफ़ फेमाइन : द ओरिजंस ऑफ़ द थर्ड वर्ल्ड' इन रिचर्ड पीट एंड माइकेल वाट्स (संपा.) लिबरेशन इकोलॉजीज़ : एनवायरनमेंट, डेवलपमेंट, सोशल मूवमेंट्स, रुलेज (दूसरा संस्करण),लंदन।

© NCERT not to be republished

गाडगिल, माधव तथा रामचंद्र गुहा. 1995. *इकोलॉजी एंड इक्विटी : द यूज़ एंड एब्यूज़ ऑफ़ नेचर इन कंटेम्पररी इंडिया.* पेंगविन, नयी दिल्ली।

गुहा, रामचंद्र. 1997. 'द एनवायरनमेंटलिज़्म ऑफ़ द पूअर' इन रामचंद्र गुहा तथा जे. मार्टिनेज़–अलियर. *वेराइटीज़ ऑफ़ एनवायरनमेंटलिज़्म : एसेज़ नॉर्थ एंड साउथ.* ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली।

पोलान, माइकेल. 2001. द *बॉटनी ऑफ डिज़ायर : ए प्लांट्स आई व्यू ऑफ़ द वर्ल्ड.* रैंडम हाऊस, न्यूयॉर्क।

© NCERT not to be republished

अध्याय 4

पाश्चात्य समाजशास्त्री–एक परिचय

समाजशास्त्र को कभी–कभी 'क्रांति के युग' की संतान भी कहा जाता है। ऐसा इसलिए कहा जाता है क्योंकि इसका जन्म 19वीं शताब्दी में पश्चिमी यूरोप में हुआ, जहाँ विगत तीन सौ वर्षों के क्रांतिकारी परिवर्तनों ने वहाँ के लोगों के जीवन को निर्णायक रूप से बदल दिया था। समाजशास्त्र के अभ्युदय में तीन क्रांतिकारी परिवर्तनों का महत्त्वपूर्ण हाथ है–ज्ञानोदय या वैज्ञानिक क्रांति; फ्रांसिसी क्रांति तथा औद्योगिक क्रांति। इस प्रक्रिया ने केवल यूरोपीय समाज को ही पूरी तरह से नहीं बदला बल्कि यूरोप के संपर्क में आने के कारण पूरे विश्व को भी परिवर्तित किया।

इस अध्याय में तीन महत्त्वपूर्ण समाजशास्त्रियों के मुख्य विचारों पर प्रकाश डाला जाएगा। ये हैं– कार्ल मार्क्स, एमिल दुर्खाइम तथा मैक्स वैबर। समाजशास्त्र की शास्त्रीय परंपरा के धारक के नाते इन्होंने इस विषय की नींव रखी। इनके विचार और सोच आधुनिक परिवेश में भी प्रासंगिक हैं। बेशक इनके सिद्धांतों की आलोचना हुई है और इनमें समय के साथ महत्त्वपूर्ण संशोधन भी किए गए हैं। चूँकि समाज के बारे में बनी अवधारणाएँ स्वयं अपने सामाजिक परिवेश से भी प्रभावित होती हैं, अतः हम अपनी चर्चा उन परिस्थितियों से प्रारंभ करते हैं, जिनमें समाजशास्त्र का उद्भव हुआ।

समाजशास्त्र का संदर्भ

यूरोप का आधुनिक युग व आधुनिकता की वे तमाम अवस्थाएँ जो आज हमारे लिए सहज–स्वाभाविक बन चुकी हैं–यह सब तीन मुख्य प्रक्रियाओं की देन हैं। ये हैं–ज्ञानोदय अथवा 'विवेक का युग (एज ऑफ़ रीजन)', फ्रांसिसी क्रांति में निहित राजनीतिक संप्रभुता की खोज तथा अधिक उत्पादन (मास प्रोडक्शन) की वह व्यवस्था जिसका उद्घाटन औद्योगिक क्रांति ने किया। चूँकि इस विषय पर पहली पुस्तक *समाजशास्त्र परिचय* में चर्चा की जा चुकी है, अतः यहाँ हम केवल इन महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों के बौद्धिक परिणामों के बारे में चर्चा करेंगे।

क्रियाकलाप 1

समाजशास्त्र परिचय पुस्तक के प्रथम अध्याय की चर्चा 'यूरोप में आधुनिक युग का आगमन' को देखें। वह कौन से परिवर्तन थे जिनसे यह तीनों प्रक्रियाएँ जुड़ी हुई थीं?

© NCERT not to be republished

ज्ञानोदय

17वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध व 18वीं शताब्दी में पश्चिमी यूरोप में संसार के बारे में सोचने–विचारने के बिलकुल नए व मौलिक दृष्टिकोण का जन्म हुआ। ज्ञानोदय या प्रबोधन के नाम से जाने गए इस नए दर्शन ने जहाँ एक तरफ़ मनुष्य को संपूर्ण ब्रह्मांड के केंद्र बिंदु के रूप में स्थापित किया, वहीं दूसरी तरफ़ विवेक को मनुष्य की मुख्य विशिष्टता का दर्जा दिया। विवेकपूर्ण व आलोचनात्मक ढंग से सोचने की क्षमता ने मनुष्य को अपनी ही नज़र में हमेशा के लिए बदल दिया। एकल मानव अब 'व्यक्ति' बन गया; एक ऐसी हस्ती जो एक साथ ज्ञान का उत्पादक भी है और उपभोक्ता भी। इस मानव व्यक्ति को 'ज्ञान का पात्र' की उपाधि भी दी गई। लेकिन दूसरी तरफ़, यह भी सच था कि केवल उन्हीं व्यक्तियों को पूर्ण रूप से मनुष्य माना गया जो विवेकपूर्ण ढंग से सोच–विचार सकते थे। जो इस काबिल नहीं समझे गए उन्हें मानव का दर्जा नहीं दिया गया बल्कि आदिमानव या बर्बर मानव कहा गया। चूँकि मानव समाज मनुष्य द्वारा बनाया गया है, इसका युक्तिसंगत विश्लेषण संभव है। इस प्रकार के विश्लेषण के सहारे एक समाज में रहने वाले लोग दूसरे समाज को भी समझ सकते हैं।

युक्तिसंगत को मानव जगत की पारिभाषिक विशिष्टता का स्थान दिया जा सके इसके लिए प्रकृति, धर्म–संप्रदाय व देवी–देवताओं के महत्त्व को कम करना अनिवार्य था। आधुनिक युग के आने से पहले मानव जगत को जानने–समझने के लिए लोग इन्हीं पर निर्भर थे। इसका तात्पर्य यह है कि ज्ञानोदय या प्रबोधन मात्र को एक संभावना से वास्तविक यथार्थ में बदलने में उन वैचारिक प्रवृत्तियों का हाथ है जिन्हें आज हम 'धर्मनिरपेक्षता', 'वैज्ञानिक सोच' व 'मानवतावादी सोच' की संज्ञा देते हैं।

फ्रांसिसी क्रांति

फ्रांसिसी क्रांति (1789) ने व्यक्ति तथा राष्ट्र–राज्य के स्तर पर राजनीतिक संप्रभुता के आगमन की घोषणा की। मानवाधिकार के घोषणपत्र ने सभी नागरिकों की समानता पर बल दिया तथा जन्मजात (जन्म के आधार पर प्राप्त होने वाले) विशेषाधिकारों की वैधता पर प्रश्न उठाया। इसने व्यक्ति को धार्मिक तथा ज़मींदारी संस्थाओं के अत्याचारी शासन से मुक्त किया, जो फ्रांस की क्रांति के पहले वहाँ अपना वर्चस्व बनाए हुए थी। किसानों की, जो अधिकतर 'सर्फ' (बंधक मजदूर या कृषिदास) थे, कुलीन वर्ग के जागीरदारों के चंगुल से आज़ाद करवाया गया। अधिकांश करों को रद्द कर दिया गया जो किसान जागीरदारों तथा चर्च या धार्मिक संस्थान को दिया करते थे। गणतंत्र के स्वतंत्र नागरिक होने के नाते प्रभुत्वसंपन्न व्यक्ति हकों व अधिकारों के धारक बने तथा उन्हें कानून और राजकीय संस्थाओं के समक्ष समानता का अधिकार भी प्राप्त हुआ। राज्य को व्यक्ति की निजी स्वतंत्रता का सम्मान करना पड़ा और राजकीय कानून किसी भी व्यक्ति के निजी जीवन में दखल नहीं दे सकते थे। राज्य द्वारा संचालित क्षेत्र तथा सार्वजनिक घरबार द्वारा संचालित क्षेत्र को एक दूसरे से अलग कर दिया गया। सार्वजनिक व घरेलू क्षेत्रों की मर्यादा के

अनुकूल कौन-से सामाजिक संस्थान या गतिविधियाँ हैं–इस विषय पर नयी मान्यताएँ व नए विचार कायम हुए। उदाहरण के तौर पर–'धर्म' तथा 'परिवार' का अधिकांश भाग अब घरेलू या व्यक्तिगत क्षेत्र के अनुकूल माना गया जबकि शिक्षा (विशेषकर स्कूली शिक्षा/विद्यालयी शिक्षा) को अब सार्वजनिक क्षेत्र के लायक माना गया। ध्यान रहे कि फ्रांसिसी क्रांति व आधुनिक युग के पहले शिक्षा घरेलू या व्यक्तिगत विषय था–इसमें राज्य की कोई खास भूमिका नहीं थी। दूसरी तरफ़, धार्मिक व राजकीय संस्थान मिले-जुले थे और 'परिवार' आज से कहीं ज़्यादा सार्वजनिक था। साथ ही राष्ट-राज्य को भी नए सिरे से परिभाषित किया गया। अब इसे एक ऐसी प्रभुत्वसंपन्न हस्ती माना गया जिसके पास एक केंद्रीकृत शासन तंत्र है। फ्रांसिसी क्रांति के सिद्धांत–स्वतंत्रता, समानता तथा बंधुत्व–आधुनिक राज्य के नए नारे बने।

औद्योगिक क्रांति

आधुनिक उद्योगों की नींव औद्योगिक क्रांति के द्वारा रखी गई, जिसकी शुरुआत ब्रिटेन में 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तथा 19वीं शताब्दी के प्रारंभ में हुई। इसके दो प्रमुख पहलू थे। पहला, विज्ञान तथा तकनीकी का औद्योगिक उत्पादन में व्यवस्थित प्रयोग, विशेषकर नयी मशीनों का आविष्कार तथा ऊर्जा के नए साधनों का औद्योगिक कामों में उपयोग। दूसरा, औद्योगिक क्रांति ने श्रम तथा बाज़ार को नए ढंग से व बड़े पैमाने पर संगठित करने के तरीके विकसित किए, जैसा कि पहले कभी देखने में नहीं आया था। नयी मशीनों (जैसे कि "स्पिनिंग जेन्नी" नाम की सूत कातने वाली मशीन) ने औद्योगिक उत्पादकता को बेशुमार रूप से बढ़ाया। साथ ही ऊर्जा के नए स्रोतों ने (जैसे भाप से चलने वाले इंजन के विभिन्न स्वरूप) उत्पादन प्रक्रिया को सुगम बनाया। इन्हीं प्रक्रियाओं ने विशाल कारखानों की नयी औद्योगिक व्यवस्था व अधिक उत्पादन (यानी बड़े पैमाने पर औद्योगिक वस्तुओं का निर्माण) को जन्म दिया। अब वस्तुओं का उत्पादन बड़े पैमाने पर संपूर्ण विश्व के बाजारों के लिए किया जाने लगा। इन उत्पादों के निर्माण के लिए आवश्यक कच्चा माल भी दुनियाभर से प्राप्त किया जाने लगा। इस प्रकार बड़े पैमाने के आधुनिक उद्योग पूरी दुनिया में छा गए।

उत्पादन व्यवस्था में परिवर्तन होने के कारण सामाजिक जीवन में भी परिवर्तन हुए। शहरी इलाकों में बसे हुए उद्योगों को चलाने के लिए मज़दूरों की माँग को उन विस्थापित लोगों ने पूरा किया जो ग्रामीण इलाकों को छोड़, काम की तलाश में शहर आकर बस गए थे। कम तनख्वाह मिलने के कारण अपनी जीविका चलाने के लिए पुरुषों और स्त्रियों को ही नहीं बल्कि बच्चों को भी लंबे समय तक खतरनाक परिस्थितियों में काम करना पड़ता था। आधुनिक उद्योगों ने शहरों को देहात पर हावी होने में मदद दी। कस्बे और छोटे-छोटे शहर जनसंख्या निवास के मुख्य स्थान बने। यहाँ ऊँच-नीच की विषमताओं में बँटा विशाल जनसमूह थोड़े मगर सघन आबादी के भीड़-भाड़ भरे इलाकों में रहने लगा। अमीर व शक्तिशाली लोग शहरों में रहने लगे, लेकिन साथ ही मज़दूर वर्ग के गरीब लोग भी उन्हीं शहरों में झुग्गी-झोपड़ियों वाली गंदी बस्तियों में

कार्ल मार्क्स (1818-1883)

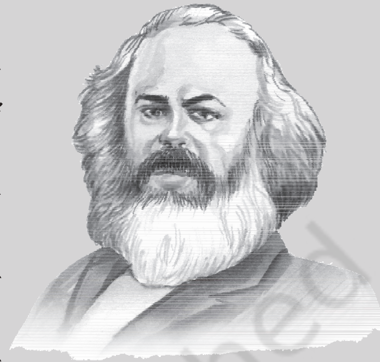

5 मई, 1818 को, प्रशिया (जर्मनी) के राइनलैंड नामक प्रांत में जन्म। संपन्न उदारवादी वकील के पुत्र।

1834-36 : बॉन विश्वविद्यालय में कानून का अध्ययन तत्पश्चात बर्लिन विश्वविद्यालय में अध्ययन जहाँ युवा हेगेलियन्स से प्रभावित।

1841 : जेना विश्वविद्यालय से दर्शनशास्त्र में डॉक्टरेट का शोधपत्र पूरा किया।

1843 : जेनी वॉन वेस्टफेलेन से विवाह कर पेरिस में बस गए।

1844 : पेरिस में फ्रेडरिक एंगेल्स से मुलाकात, जीवनपर्यंत मित्र बने।

1847 : 'इंटरनेशनल वर्किंग मेन्स एसोसिएशन' द्वारा उनको संगठन के लक्ष्य तथा उद्देश्यों का दस्तावेज़ तैयार करने के लिए आमंत्रित किया गया। यह मार्क्स तथा एंगेल्स द्वारा संयुक्त रूप से लिखा गया तथा इसका प्रकाशन–*'मैनिफैस्टो ऑफ द कम्युनिस्ट पार्टी'* (1948) के नाम से हुआ।

1849 : देशनिकाला; मृत्युपर्यंत इंग्लैंड में निवास।

1852 : *'द एटिंथ ब्रूमायर ऑफ लुई बोनापार्ट'* का प्रकाशन।

1859 : *'ए कॉन्ट्रीब्यूशन टू द क्रिटिक ऑफ पॉलिटिकल इकोनॉमी'* का प्रकाशन।

1867 : *'कैपिटल'*, प्रथम खंड–प्रकाशित

1881 : जेनी वॉन वेस्टफेलेन की मृत्यु

1883 : मार्क्स का निधन तथा लंदन हाइगेट सीमेट्री में दफनाए गए।

रहने को विवश थे। आधुनिक शासन पद्धतियों के अनुसार राज तंत्र को स्वास्थ्य, सफाई व्यवस्था, आपराधिक गतिविधियों व व्यवसायों पर नियंत्रण तथा सर्वांगीण विकास जैसे सार्वजनिक सामूहिक विषयों की ज़िम्मेदारी उठानी पड़ी। इन नयी ज़िम्मेदारियों को निभाने के लिए शासन तंत्र को नए प्रकार की जानकारी व ज्ञान की आवश्यकता महसूस हुई। नए ज्ञान के लिए उभरती माँग ने सामाजिक विज्ञान और विशेषकर समाजशास्त्र जैसी नयी विधाओं के अभ्युदय व विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

प्रारंभ से ही समाजशास्त्रीय विचार मुख्य रूप से औद्योगिक समाज के विकास के वैज्ञानिक अन्वेषण से जुड़े हुए हैं। इसके कारण विद्वानों में इस विषय पर विवाद है कि समाजशास्त्र 'नए औद्योगिक समाज का विज्ञान' है। अनुभव को आधार बनाकर समाजिक तौर–तरीकों पर वैज्ञानिक विचार–विमर्श तभी संभव हुआ जब आधुनिक

© NCERT not to be republished

औद्योगिक समाज की शुरुआत हुई। किसी भी समाज को समझने का आधार, वहाँ के राज्य द्वारा तैयार की गई वैज्ञानिक सूचना बनी जो इसके सामाजिक संकायों की देख-रेख करती है। समाजशास्त्रीय सिद्धांत इसी चिंतन-मनन का परिणाम है।

कार्ल मार्क्स जर्मनी के निवासी थे परंतु देश से निकाले जाने के कारण उन्होंने अपना अधिकतम समय ब्रिटेन में बिताया। उनके क्रांतिकारी राजनीतिक विचारों के कारण उन्हें न केवल अपनी मातृभूमि बल्कि आस्ट्रिया तथा फ्रांस से भी निकाल दिया गया। दार्शनिक न होते हुए भी इन्होंने दर्शनशास्त्र का अध्ययन किया था। वे एक सामाजिक चिंतक और विश्लेषक थे जिन्होंने अत्याचार तथा शोषण को खत्म करने की वकालत की। उन्हें विश्वास था कि वैज्ञानिक समाजवाद के द्वारा इस लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती है। इसकी प्राप्ति के लिए मार्क्स ने पूँजीवादी समाज का आलोचनात्मक विश्लेषण कर उसकी कमज़ोरियों को उजागर किया ताकि इस व्यवस्था का पतन हो सके। मार्क्स का यह कहना था कि समाज ने विभिन्न चरणों में उन्नति की है। ये चरण हैं—आदिम साम्यवाद, दासता, सामंतवादी व्यवस्था तथा पूँजीवादी व्यवस्था। पूँजीवाद मनुष्य के विकास का सबसे नवीनतम चरण है लेकिन, उनका मानना था कि बहुत जल्दी ही इसका स्थान समाजवाद ले लेगा।

पूँजीवादी समाज में अलगाव की स्थिति और शक्ति का स्थानांतरण कई स्तरों पर काम करता हुआ दिखाई देता है। पहला, आधुनिक पूँजीवादी समाज में मनुष्य प्रकृति से अपने आपको काफी अलग-थलग पाता है। दूसरा, व्यक्ति में अलगाव की स्थिति पैदा हो गई है क्योंकि पूँजीवाद ने सामाजिक व्यवस्था के चले आ रहे सामूहिक रूप को व्यक्तिगत बना दिया है और यहाँ सभी आपसी संबंध ज़्यादातर बाज़ार से परिचालित और व्यवस्थित होते हैं। तीसरा, कामकाजी व्यक्तियों का एक बड़ा समूह स्वयं अपनी मेहनत के फल से वंचित है क्योंकि मज़दूर का अपने द्वारा उत्पादित वस्तुओं पर कोई अधिकार नहीं है इसके अलावा मज़दूरों का कार्यप्रणाली पर कोई नियंत्रण नहीं है। पहले, प्रशिक्षित दस्तकार का अपने श्रम पर पूरा नियंत्रण होता था। आज कारखानों में काम करने वाले मज़दूरों की दिनचर्या का निर्धारण प्रबंधक करते हैं। अतः इन परिणामों के फलस्वरूप आज व्यक्ति स्वयं से अलग हो गया है और अपने जीवन को सक्षम बनाने के लिए वह संघर्ष करता है जहाँ वह आज़ाद तो है परंतु अलग-थलग है और अपने जीवन पर उसका नियंत्रण पहले की तुलना में कम हो गया है।

हालाँकि यह व्यवस्था शोषण तथा अत्याचार पर आधारित थी; परंतु फिर भी मार्क्स का यह मानना था कि पूँजीवाद, मानव इतिहास में एक आवश्यक तथा प्रगतिशील चरण रहा क्योंकि इसने ऐसा वातावरण तैयार किया जो भविष्य में समान अधिकारों की वकालत करने तथा शोषण और गरीबी को समाप्त करने के लिए आवश्यक है। पूँजीवादी समाज में परिवर्तन सर्वहारा वर्ग द्वारा लाया जाएगा जो इसके शोषण के शिकार हैं; जो एक साथ मिलकर क्रांतिकारी परिवर्तन द्वारा इसे जड़ से समाप्त कर स्वतंत्रता तथा समानता पर आधारित समाजवादी (सोशलिस्ट) समाज की स्थापना करेंगे। पूँजीवादी व्यवस्था

© NCERT not to be republished

की कार्यप्रणाली को समझने के लिए मार्क्स ने इसके राजनीतिक सामाजिक विशेषकर इसके आर्थिक रूप का गहन अध्ययन किया।

अर्थव्यवस्था के बारे में मार्क्स की धारणा थी कि यह उत्पादन के तरीकों पर आधारित होती है। यह उत्पादन की विस्तृत प्रणाली है जिसका संबंध ऐतिहासिक काल से होता है। आदिम साम्यवाद, दास प्रथा, सामंतवाद, पूँजीवाद—ये सब उत्पादन की व्यवस्थाएँ हैं। सामान्य स्तर पर उत्पादन की व्यवस्थाएँ एक काल विशेष में जीवन की विशेषताओं को दिखाती हैं। विशिष्ट स्तर पर हम, उत्पादन की व्यवस्था को एक इमारत की तरह ले सकते हैं। जैसे एक इमारत में एक आधार या नींव होती है, जिस पर इमारत खड़ी होती है और फिर एक ढाँचा, जो इस नींव पर खड़ा किया जाता है। इसी प्रकार यहाँ पर नींव या अर्थव्यवस्था का आधार—प्राथमिक तौर पर आर्थिक होता है और इसमें उत्पादक शक्तियाँ और उत्पादन संबंध शामिल होते हैं। यहाँ उत्पादक शक्तियों से तात्पर्य उत्पादन के उन सभी साधनों से है; जैसे—भूमि, मज़दूर, तकनीक, ऊर्जा के विभिन्न साधन (बिजली, कोयला, पेट्रोलियम आदि)। उत्पादन संबंध के अंतर्गत वे सभी आर्थिक संबंध आते हैं जो मज़दूर संगठन के रूप में उत्पादन में भाग लेते हैं। उत्पादन संबंध संपत्ति संबंधी भी होते हैं क्योंकि ये स्वामित्व अथवा उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण से संबंधित होते हैं।

उदाहरण के तौर पर, आदिम साम्यवाद में उत्पादन के तरीकों के अंतर्गत मुख्यत: प्रकृति-जंगल, भूमि, जानवर इत्यादि आते हैं। इसमें तकनीक के आदिम तरीकों का इस्तेमाल किया जाता है; जैसे—पत्थर के सरल औज़ार तथा शिकार के हथियार। उत्पादन संबंध सामूहिक संपत्ति पर आधारित थे (इस समय निजी संपत्ति की अवधारणा नहीं थी)। शिकार तथा संग्रहण के आदिम तरीके मज़दूर संगठन के रूप थे।

इस प्रकार अर्थव्यवस्था का आधार मुख्यत: उत्पादक शक्तियों और उत्पादन से उनके संबंधों पर आधारित होता है। इसी धरातल पर समाज की सभी संस्थाएँ—सामाजिक, सांस्कृतिक तथा राजनीतिक एक दूसरे पर आश्रित हैं। अत: धर्म, कला, कानून, साहित्य तथा विभिन्न प्रकार के विश्वास और सोच जैसी संस्थाएँ इसी अधिसंरचना के भाग हैं जिनका निर्माण इस नींव पर किया गया है। मार्क्स का यह मानना था कि व्यक्ति की सोच और विश्वास ने उसी अर्थव्यवस्था से जन्म लिया है जिसका वे हिस्सा हैं। व्यक्ति अपनी जीवनचर्या कैसे कमाता है; इससे निर्धारित होता है कि उसकी सोच कैसी है। भौतिक जीवन सोच को आकार देते हैं परंतु सोच भौतिक जीवन को आकार नहीं देती। यह तर्क मार्क्स की समकालीन धारणा से बिलकुल अलग था। उस समय यह प्रचलित था कि मनुष्य जैसा चाहे वैसा सोचने के लिए स्वतंत्र है क्योंकि विचार ही दुनिया को आकार देते हैं।

मार्क्स ने आर्थिक संरचनाओं और प्रक्रियाओं पर अधिक बल दिया क्योंकि उनका विश्वास था कि मानव इतिहास में ये प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था की नींव होते हैं। अगर हम यह समझ सकें कि किस तरह अर्थव्यवस्था कार्य करती है और किस प्रकार यह पहले भी बदलती रही है, तो हम यह सीख सकेंगे कि भविष्य में समाज में

कैसे परिवर्तन आएँगे। परंतु इस प्रकार का परिवर्तन कैसे लाया जा सकता है? मार्क्स का उत्तर है–वर्ग संघर्ष द्वारा।

वर्ग संघर्ष

मार्क्स के लिए, व्यक्ति को सामाजिक समूहों में विभाजित करने का मुख्य तरीका धर्म, भाषा, राष्ट्रीयता अथवा समान पहचान के बजाए उत्पादन प्रक्रिया के संदर्भ में था। उन्होंने तर्क दिया कि सामाजिक उत्पादन प्रक्रिया में, जो व्यक्ति एक जैसे पदों पर आसीन होते हैं. वे स्वतः ही एक वर्ग निर्मित करते हैं। उत्पादन प्रक्रिया में अपनी स्थिति के अनुसार तथा संपत्ति के संबंधों में, उनके एक जैसे हित तथा उद्देश्य होते हैं चाहे उन्हें इसकी पहचान उस समय न हो। वर्गों का निर्माण एक ऐतिहासिक प्रक्रिया के तहत होता है, जो उत्पादन में सहायक शक्तियों की स्थिति में परिवर्तन तथा पहले से विद्यमान वर्गों के मध्य होने वाले संघर्षों के फलस्वरूप होता है। जैसे उत्पादन के साधन–उत्पादन तकनीक तथा उत्पादन के सामाजिक संबंधों–में परिवर्तन आता है तो विभिन्न वर्गों में संघर्ष बढ़ जाता है जिसका परिणाम संघर्ष होता है। उदाहरणतः उत्पादन के पूँजीवादी साधन सर्वहारा वर्ग का निर्माण करते हैं, जो नवीन शहरी संपत्तिविहीन वर्ग होता है जिसका निर्माण सामंतवादी कृषक व्यवस्था के विनाश के फलस्वरूप हुआ है। सर्फ तथा छोटे-छोटे कृषकों को भूमि तथा आजीविका के पूर्ववर्ती स्रोत से बेदखल कर दिया गया। तत्पश्चात् अपनी आजीविका कमाने के लिए वे नगरों में जाकर बसने लगे तथा कानून एवं पुलिस के दबाव के फलस्वरूप उन्हें नए बने कारखानों में काम करना पड़ा। अतः एक बृहद् नवीन सामाजिक वर्ग का निर्माण हुआ जो संपत्तिविहीन था और जिन्हें अपनी आजीविका के लिए मजबूरी में काम करना पड़ता था। उत्पादन प्रक्रिया में साझे रूप से काम करने के कारण मज़दूरों ने एक अलग वर्ग बनाया।

मार्क्स वर्ग संघर्ष के प्रतिपादक थे। उनका यह मानना था कि वर्ग संघर्ष सामाजिक परिवर्तन लाने वाली मुख्य ताकत होती है। *कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो* (जो कार्य करने का कार्यक्रम भी था) में मार्क्स तथा एंगेल्स ने अपने विचार स्पष्ट तथा संक्षेप में रखे। इसकी प्रारंभिक पंक्तियाँ घोषणा करती हैं, "प्रत्येक विद्यमान समाज का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है"। मनुष्य के इतिहास को ढूँढ़ते हुए उन्होंने यह बताया कि वर्ग संघर्ष की प्रकृति विभिन्न ऐतिहासिक कालों में भिन्न थी। आदिम से आधुनिक रूप में समाज का विकास कई भिन्न चरणों में हुआ है तथा प्रत्येक काल में शोषक तथा शोषित वर्ग एक-दूसरे से अलग होते हैं। मार्क्स और एंगेल्स ने लिखा है, "आज़ाद तथा दास, कुलीन तथा सामान्यजन, ज़मींदार एवं सर्फ, श्रेणी प्रमुख तथा कारीगर; एक शब्द में शोषक और शोषित, एक दूसरे का विरोध लगातार करते रहे हैं, निरंतर, कभी दबे रूप में, कभी खुले रूप में युद्ध"। प्रत्येक स्तर पर मुख्य विरोधी वर्ग उत्पादन प्रक्रिया के अंतर्विरोध से पहचाने जाते हैं। पूँजीवादी व्यवस्था में उत्पादन के सभी साधनों पर (पूँजी, फैक्ट्री, मशीनें, भूमि इत्यादि) बुर्जुआ वर्ग का अधिकार होता है। दूसरी तरफ़, श्रमिक वर्ग का उत्पादन के सभी साधनों

पर से अधिकार समाप्त हो गया। अत: पूँजीवादी सामाजिक व्यवस्था में मज़दूरों के पास जीवित रहने के लिए, सिवाय अपने श्रम को बेचने के दूसरा कोई रास्ता नहीं रह गया था क्योंकि उनके पास और कुछ बचा ही नहीं था।

अगर दो वर्ग सिद्धांतत: एक-दूसरे के विरोधी भी हों तो भी वे स्वत: संघर्ष में नहीं पड़ते हैं। संघर्ष होने के लिए यह आवश्यक है कि वे अपने वर्ग हित तथा पहचान के प्रति जागरूक हों, साथ ही, अपने विरोधी के हितों तथा पहचान के प्रति सजग रहें। इस प्रकार की 'वर्ग चेतना' के विकसित होने के उपरांत राजनीतिक गोलबंदी के तहत वर्ग संघर्ष होते हैं। इस प्रकार के संघर्षो से प्रभावशाली अथवा शासक वर्ग को उनके द्वारा उखाड़ फेंका जाता है—जो पहले से शासित अथवा अधीनस्थ वर्ग होता है—इसे ही क्रांति कहते हैं। मार्क्सवादी सिद्धांत के तहत आर्थिक प्रक्रियाओं से विरोधों का जन्म होता है जो आगे चलकर वर्ग संघर्ष को जन्म देता है। परंतु आर्थिक प्रक्रियाएँ स्वत: क्रांति का नेतृत्व नहीं करतीं बल्कि सामाजिक तथा राजनीतिक प्रक्रियाएँ भी समाज को पूर्णत: परिवर्तित करने के लिए आवश्यक होती हैं।

विचारधारा का होना एक मुख्य कारण है क्योंकि आर्थिक तथा सामाजिक-राजनीतिक प्रक्रियाओं के संबंध बहुत जटिल होते हैं। प्रत्येक काल में शासक वर्गो द्वारा प्रभुत्वशाली विचारधारा को बढ़ावा दिया जाता है। यह प्रभुत्वशाली विचारधारा अथवा दुनिया को देखने का नज़रिया, शासक वर्ग के प्रभाव तथा विद्यमान सामाजिक क्रम को न्यायसंगत ठहराता है। उदाहरण के तौर पर, प्रभावी विचारधारा गरीब व्यक्तियों को यह सोचने के लिए प्रेरित करती है कि वे गरीब इसलिए नहीं हैं कि उनका शोषण अमीरों द्वारा होता है बल्कि अपने 'भाग्य' के कारण अथवा पिछले जन्म में अपने बुरे कर्मो द्वारा इत्यादि।

क्रियाकलाप 2

हालाँकि इसे भी 'वर्ग' कहा जाता है, क्या आप तथा आपके सहपाठियों द्वारा बनाए गए समूह मार्क्सवादी अर्थ में 'वर्ग' कहलाएँगे? इस दृष्टिकोण के पक्ष तथा विपक्ष में तर्क दीजिए। क्या कारखानों तथा कृषि कार्य करने वाले मज़दूर एक ही वर्ग से संबंध रखते हैं, एक ही कारखाने में काम करने वाले मज़दूर तथा मैनेजर—क्या ये एक ही वर्ग से संबंधित हैं? क्या अमीर उद्योगपति अथवा फैक्ट्री के मालिक जो नगरों में रहते हैं तथा जिसके पास कोई कृषि भूमि नहीं है एक ही वर्ग से संबंध रखते हैं जैसे गरीब कृषक मजदूर जो गाँव में रहता है तथा जिसके पास कोई ज़मीन नहीं है? एक ज़मींदार जो काफी ज़मीन का मालिक है और एक छोटा किसान जिसके पास कम भूमि है—क्या ये दोनों एक ही वर्ग से संबंधित होंगे यदि वे एक ही गाँव में रहते हों तथा दोनों ज़मींदार हों? इन उदाहरणों के उत्तर में दिए गए कारणों को ध्यानपूर्वक सोचिए।

सुझाव: कल्पना कीजिए इन उदाहरणों में दिए गए लोगों को अच्छी लगने वाली कौन-सी चीज़ें समान हैं; सोचिए कि बृहत सामाजिक व्यवस्था में उन्होंने कौन-सा स्थान ग्रहण किया हुआ है, खासकर उत्पादन प्रक्रिया के संबंध में।

एमिल दुर्खाइम (1858-1917)

15 अप्रैल 1858 में एपिनल में जन्म हुआ जो जर्मन सीमा पर स्थित फ्रांस के लॉरेन प्रांत में था। वे एक रूढ़िवादी यहूदी परिवार से थे और इनके पिता, दादा तथा परदादा सब यहूदी पादरी थे। इन्हें भी प्रारंभ में धार्मिक स्कूल में प्रशिक्षण के लिए भेजा गया।

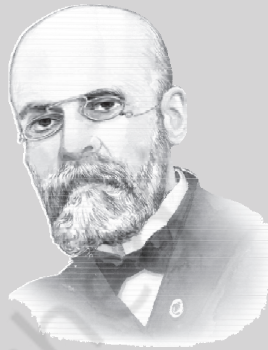

1876 : पेरिस के एकोल नॉरमाल सुपेरियो में दर्शनशास्त्र के अध्ययन के लिए दाखिल हुए।

1887 : बोर्डियो विश्वविद्यालय में सामाजिक विज्ञान तथा शिक्षा के लेक्चरर नियुक्त हुए।

1893 : डॉक्टरेट शोध प्रपत्र *डिविजन ऑफ लेबर इन सोसायटी* प्रकाशित।

1895 : *रूल्स ऑफ सोशियोलॉजीकल मैथड* प्रकाशित।

1897 : फ्रांस के प्रथम सामाजिक विज्ञान जर्नल *ऐनी सोशियोलॉजिक* का प्रारंभ और अपना प्रसिद्ध अध्ययन पत्र *स्यूसाइड* प्रकाशित किया।

1902 : पेरिस विश्वविद्यालय के शिक्षा विभाग से जुड़े जो 1913 में शिक्षा एवं समाजशास्त्र के नाम से जाना गया।

1912 : द *एलिमेंट्री फॉर्म्स ऑफ द रिलीजियस लाइफ* पुस्तक प्रकाशित हुई।

1917 : प्रथम विश्वयुद्ध में अपने बेटे आंद्रे की मृत्यु के सदमे के कारण 59 वर्ष की आयु में निधन।

हालाँकि प्रभुत्वशाली विचारधारा हमेशा सफल नहीं होतीं और उन्हें विरोधी विचारधाराओं अथवा वैकल्पिक वैश्विक दृष्टियों की चुनौतियों का सामना करना पड़ता है। चूँकि प्रत्येक वर्ग में सजगता सतत रूप से नहीं पाई जाती, अत: एक विशेष ऐतिहासिक परिस्थिति में कोई वर्ग किस प्रकार से कार्य करेगा, इसका पूर्वानुमान नहीं लगाया जा सकता। अत: मार्क्स के अनुसार आर्थिक प्रक्रियाएँ ज़्यादातर वर्ग संघर्ष को जन्म देती हैं, हालाँकि यह राजनीतिक तथा सामाजिक स्थितियों पर भी निर्भर करता है। अनुकूल परिस्थितियों के अंतर्गत वर्ग संघर्ष क्रांति के रूप में परिणित हो जाता है।

एमिल दुर्खाइम को समाजशास्त्र के औपचारिक संकाय का संस्थापक माना जा सकता है क्योंकि वे सन् 1913 में पेरिस में समाजशास्त्र के पहले प्रोफेसर थे। रूढ़िवादी यहूदी परिवार में जन्मे, दुर्खाइम को 'रेब्बिनिकल विद्यालय' (धार्मिक यहूदी विद्यालय) में प्रारंभिक शिक्षा के लिए भेजा गया। 1876 में जब उन्होंने इकोल नॉरमाल सुपेरियोर में प्रवेश लिया तब अपने धार्मिक अभिविन्यास से संबंध-विच्छेद कर अपने आपको नास्तिक घोषित कर दिया। लेकिन फिर भी, उनके नैतिक पोषण का उनके समाजशास्त्रीय चिंतन पर गहरा प्रभाव पड़ा। किसी भी समाज की मुख्य विशेषता उसकी

© NCERT not to be republished

नैतिक संहिताएँ होती हैं जो व्यक्तिगत आचरण को निर्धारित करती हैं। एक धार्मिक परिवार से आने के कारण, धर्म संबंधित धर्मनिरपेक्ष चिंतन उन्हें बेहद प्रिय था जिसको वे विकसित करना चाहते थे। अपनी इस इच्छा की पूर्ति वे अपनी आखिरी पुस्तक द *एलिमेंट्री फॉर्म्स ऑफ द रिलीजियस लाइफ* में कर पाए।

दुर्खाइम के लिए समाज एक सामाजिक तथ्य था जिसका अस्तित्व नैतिक समुदाय के रूप में व्यक्ति से ऊपर था। वे बंधन जो मनुष्य को समूहों के रूप में आपस में बाँधते थे, समाज के अस्तित्व के लिए निर्णायक थे। ये बंधन अथवा सामाजिक एकता व्यक्ति पर दबाव डालते हैं ताकि वह समूह के मानदंडों तथा अपेक्षाओं के अनुरूप हो। ये व्यक्ति के व्यवहार प्रतिमानों को बाधित करते हैं तथा विविधताएँ एक छोटे दायरे में सिमट जाती हैं। सामाजिक क्रियाओं में विकल्पों को सीमित करने का आशय यह था कि सामाजिक व्यवहार का पुर्वानुमान संभव था क्योंकि व्यवहार प्रतिमान के साथ होता था। इस प्रकार अवलोकित व्यवहार के प्रतिमान को देख कर मानदंडों, संहिताओं तथा सामाजिक एकता को पहचाना जा सकता था जो उन्हें नियंत्रित करते थे। अतः दूसरे प्रकार की 'अमूर्त' चीज़ों का अस्तित्व जैसे—विचारों, मानदंडों, मूल्यों इत्यादि को मनुष्य के सामाजिक व्यवहार के प्रतिमान के अध्ययन से, आनुभविक रूप से सत्यापित किए जा सकते हैं क्योंकि वे समाज में एक-दूसरे से संबंधित हैं।

दुर्खाइम के अनुसार, सामाजिकता को आचरण की संहिताओं में पाया जा सकता था जो व्यक्ति पर सामूहिक समझौते के तहत ज़बरदस्ती थोपे जाते थे। यह जीवन के दैनिक क्रियाकलापों में देखे जा सकते थे। समाज की वैज्ञानिक समझ, जिसे दुर्खाइम विकसित करना चाहते थे, वह नैतिक तथ्यों की मान्यता पर आधारित थी। उन्होंने लिखा, 'नैतिक तथ्य अन्य तथ्यों की तरह घटित होते हैं; वे क्रिया के नियमों से बने हैं जो विशेष गुणों द्वारा पहचाने जाते हैं, उनका अवलोकन, वर्णन तथा वर्गीकरण किया जा सकता है और वे विशेष कानूनों के द्वारा समझाए जा सकते हैं', (दुर्खाइम 1964:32)। नैतिक संहिताएँ विशेष सामाजिक अवस्थाओं की अभिव्यक्ति थीं। अतः एक समाज की नैतिकता दूसरे समाज के लिए अनुपयुक्त थी। अतः दुर्खाइम के अनुसार नैतिक संहिताओं से सामाजिक परिस्थितियों की व्युत्पत्ति हो सकती है। इसने समाजशास्त्र को प्राकृतिक विज्ञान के समान बना दिया तथा उनके यह बृहत उद्देश्य समाजशास्त्र को एक वैज्ञानिक संकाय के रूप में स्थापित करने के बहुत निकट थे।

दुर्खाइम की समाजशास्त्रीय दृष्टि

दुर्खाइम की दृष्टि में, समाजशास्त्र में एक नवीन वैज्ञानिक संकाय के रूप में दो मुख्य विशेषताएँ हैं। प्रथम, समाजशास्त्र की विषय वस्तु—सामाजिक तथ्यों का अध्ययन दूसरे विज्ञानों की तुलना से भिन्न था। समाजशास्त्र अपने आप से अनन्य रूप से संबंधित था जिसे उन्होंने 'उद्गामी स्तर', अर्थात जटिल सामूहिकता का जीवन-स्तर कहा, जहाँ सामाजिक प्रघटनाओं का उद्भव हो सकता है। ये प्रघटनाएँ उदाहरणतः सामाजिक संस्थाएँ जैसे धर्म अथवा परिवार अथवा सामाजिक मूल्यों जैसे दोस्ती अथवा देशभक्ति इत्यादि हैं, जो कि

एक जटिल समग्र में ही संभव है, जो कि अपने दूसरे अंगों से बड़ा (विभिन्न प्रकारों में) है। हालाँकि इसका निर्माण पूर्ण रूप से व्यक्तियों द्वारा होता है, एक सामूहिक सामाजिक पहचान फुटबॉल अथवा क्रिकेट टीम में मात्र ग्यारह व्यक्तियों के समूह से अलग तथा अधिक होती है। सामाजिक पहचान जैसे टीम, राजनीतिक पार्टियाँ, स्ट्रीट गिरोह, धार्मिक समुदाय, राष्ट्र इत्यादि व्यक्ति के स्तर से नहीं अपितु अन्य वास्तविकताओं के स्तर से संबंधित होते हैं। यही वह 'उद्गम' स्तर है जिसका अध्ययन समाजशास्त्री करते हैं।

दुर्खाइम के समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण की दूसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता थी—अन्य प्राकृतिक विज्ञानों की तरह इसे भी आनुभविक विषय होना चाहिए था। यह वास्तव में एक कठिन दावा था क्योंकि सामाजिक प्रघटनाएँ अपनी प्रकृति में ही अमूर्त होती हैं। हम सामूहिक पहचान के रूप में जैन समुदाय, अथवा बंगाली (अथवा मलयाली या मराठी) बोलने वाले समुदाय अथवा नेपाली या मिस्र राष्ट्र के समुदायों को देख नहीं सकते। कम से कम, हम उन्हें उसी तरह सीधे रूप में नहीं देख सकते जिस प्रकार से हम एक पेड़ या लड़का या बादल को देख सकते हैं। यदि सामाजिक प्रघटना छोटी हो तो भी—जैसे एक परिवार अथवा नाट्यसमूह—हम सीधे तौर पर उन व्यक्तियों को देखते हैं, जो इस सामूहिकता का निर्माण करते हैं, हम सामूहिकता को नहीं देख सकते। दुर्खाइम की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि इस तथ्य को दर्शाती है कि समाजशास्त्र एक ऐसा शास्त्र है जो अमूर्त तत्वों, जैसे सामाजिक तथ्यों, का विज्ञान हो सकता है जो अवलोकन, आनुभविक इंद्रियानुभवी सत्यापनीय साक्ष्यों पर आधारित हो। हालाँकि व्यवहार प्रत्यक्ष रूप में अवलोकित नहीं होता, सामाजिक तथ्यों को अप्रत्यक्ष रूप से व्यवहार के प्रतिमान में अवलोकित किया जा सकता है। नवीन आनुभविक आँकड़ों पर आधारित एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण 'आत्महत्या' पर इनके द्वारा किया गया अध्ययन है। हालाँकि आत्महत्या का प्रत्येक अध्ययन विशिष्ट रूप से व्यक्ति तथा उसकी परिस्थितियों से संबंधित होता है, परंतु यह भी एक सामाजिक तथ्य है कि आत्महत्या की औसत दर समुदाय में हज़ारों की संख्या में होती है। अत: सामाजिक तथ्य का अवलोकन सामाजिक व्यवहार से और मुख्यत: सामाजिक व्यवहार के कुल प्रतिमानों से किया जा सकता है।

अत: 'सामाजिक तथ्य' क्या हैं? सामाजिक तथ्य वस्तुओं की तरह होते हैं। वे व्यक्ति के लिए बाह्य होते हैं परंतु उनके आचरण को बाधित करते हैं। कानून, शिक्षा तथा धर्म जैसी संस्थाएँ सामाजिक तथ्यों का गठन करती हैं। सामाजिक तथ्य सामूहिक प्रतिनिधान होते हैं जिनका उद्भव व्यक्तियों के संगठन से होता है। वे व्यक्ति विशिष्ट के लिए न होकर सामान्य प्रकृति के होते हैं और व्यक्तियों से स्वतंत्र होते हैं। मान्यताएँ, संवेदनाएँ अथवा सामूहिक मान्यताएँ इसके कुछ उदाहारण हैं।

समाज में श्रम-विभाजन

अपनी पहली पुस्तक *डिवीज़न ऑफ लेबर इन सोसायटी* में दुर्खाइम ने समाज के आदिम से आधुनिक तक के उद्विकास की प्रक्रिया के विश्लेषण की अपनी विधि को स्पष्ट किया है। उन्होंने समाज का वर्गीकरण सामाजिक एकता

की प्रकृति के आधार पर किया जो उस समाज में विद्यमान थी। उन्होंने तर्क दिया कि जहाँ आदिम समाज का संगठन 'यांत्रिक एकता' पर आधारित था वहीं आधुनिक समाज का आधार 'सावयवी एकता' पर आधारित था। यांत्रिक एकता का आधार व्यक्तिगत एकरूपता होती है तथा यह कम जनसंख्या वाले समाजों में पाई जाती है। यह विशिष्ट रूप से विभिन्न स्वावलंबित समूह है जहाँ प्रत्येक व्यक्ति एक विशिष्ट समूह के अंतर्गत एक जैसे क्रियाकलापों तथा प्रकार्यों में लिप्त रहता है। चूँकि व्यक्तियों की एकता अथवा आपसी बंधन समरूपता तथा व्यक्तिगत संबंधों पर आधारित होते हैं, अतः इस प्रकार के समाज किसी प्रकार की विषमता के प्रति सहिष्णु नहीं होते तथा समाज के किसी मानदंड की अवहेलना करने पर कठोर दंड दिया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, यांत्रिक एकता पर आधारित समाजों में दमनकारी कानून बनाए जाते हैं ताकि सामाजिक मान्यताओं से विचलन को रोका जा सके। ऐसा इसलिए था क्योंकि व्यक्ति तथा समाज आपस में जुड़े हुए थे और इसकी आशंका रहती थी कि आचरण की मान्यताओं के भंग होने से समाज बिखर सकता था।

आधुनिक समाज की एक मुख्य विशेषता 'सावयवी एकता' है और यह सदस्यों की विषमताओं पर आधारित है। यह बृहत् जनसंख्या वाले समाज में पाई जाती है, जहाँ अधिकतर सामाजिक संबंध अवैयक्तिक होते हैं। इस प्रकार के समाज का आधार संस्थाएँ होती हैं और इसका प्रत्येक घटक अथवा इकाई अपने आप में स्वावलंबी न होकर अपने उत्तरजीवी की दूसरी इकाई अथवा समूह पर आश्रित होती हैं। पारस्परिक निर्भरता सावयवी एकता का सार है। यहाँ व्यक्ति को प्रमुखता दी जाती है तथा वे एक दूसरे से भिन्न आवश्यकताओं की आज्ञा ही नहीं देते बल्कि उनके सावयवी संबंधों तथा बहुविकल्पीय भूमिकाओं को मान्यता भी प्रदान करते हैं। आधुनिक समाज के कानून 'दमनकारी' न होकर 'क्षतिपूरक' प्रवृत्ति के होते हैं। इसका यह अर्थ हुआ कि आधुनिक समाज में कानून का मुख्य उद्देश्य अपराधी कृत्यों में सुधार लाना या उसे ठीक करना है। ठीक इसके विपरीत, आदिम समाज में कानून द्वारा गलत कार्य करने वालों को सजा दी जाती थी जो एक प्रकार से उसके कृत्यों के लिए सामूहिक प्रतिशोध होता था। आधुनिक समाज में व्यक्ति को स्वायत्त शासन की कुछ छूट थी जबकि आदिम समाज में व्यक्ति पूर्ण रूप से सामूहिकता में लिप्त था।

आधुनिक समाज की एक प्रमुख विशेषता यह है कि समान उद्देश्य वाले व्यक्ति स्वैच्छिक रूप से एक-दूसरे के करीब आकर समूह और संगठन बना लेते हैं क्योंकि ये समूह एक विशिष्ट उद्देश्य से प्रेरित होते हैं अतः एक दूसरे से भिन्न रहते हुए उनके सदस्यों के संपूर्ण जीवन को ग्रहण नहीं करते। अतः विभिन्न परिस्थितियों में व्यक्तियों की भिन्न-भिन्न पहचान होती है। यह व्यक्ति को समाज की छत्रछाया से बाहर निकाल, उनके प्रकार्य तथा भूमिका का निर्वाह करने में तथा अपनी अलग पहचान बनाने में मदद करती है। चूँकि हर व्यक्ति को अपनी बुनियादी ज़रूरतों (जैसे-रोटी, कपड़ा, मकान तथा शिक्षा) की पूर्ति के लिए

© NCERT not to be republished

दूसरों पर निर्भर रहना पड़ता है इसके लिए उसकी दूसरों के साथ अन्तःक्रिया बढ़ जाती है। इस प्रकार के समाज में, अवैयक्तिक नियम तथा विधानों की आवश्यकता सामाजिक संबंधों के नियंत्रण के लिए होती है क्योंकि वैयक्तिक संबंधों का निर्वाह अधिक जनसंख्या में संभव नहीं होता।

'द डिवीजन ऑफ लेबर इन सोसायटी' दुर्खाइम के चिंतन के महत्त्व को दर्शाता है। एक सर्वथा भिन्न विषय को लेकर उसे नवीन वैज्ञानिक शाखा के रूप में स्थापित करने की कोशिश, जो इस प्रकार आनुभविक विधिसंगत हो, जिस प्रकार वे सामाजिक तथ्य के रूप में विभिन्न प्रकार की सामाजिक एकता पर परिचर्चा करते हैं; जिसकी

क्रियाकलाप 3

दुर्खाइम तथा मार्क्स ने सामाजिक श्रम विभाजन के विषय में क्या कहा–तुलना करने की कोशिश कीजिए। दोनों सहमत हैं कि जैसे-जैसे समाज का उद्‌विकास होता है उत्पादन के साधन जटिल होते जाते हैं। श्रम विभाजन और विस्तृत हो जाता है और यह विभिन्न सामाजिक समूहों में पारस्परिक निर्भरता को बढ़ाता है। परंतु जहाँ दुर्खाइम एकता पर बल देते हैं वही मार्क्स संघर्ष पर। आप इस बारे में क्या सोचते हैं?

क्या आप कारण बता सकते हैं कि मार्क्स आधुनिक समाज के विषय में गलत क्यों हो सकते हैं? उदाहरणतः क्या आप ऐसी किसी स्थिति अथवा उदाहरण के बारे में सोच सकते हैं जहाँ व्यक्ति विभिन्न वर्गों की पृष्ठभूमि तथा हितों में संघर्ष होने पर भी आपस में एक समूह तथा सामूहिकता में जुड़ते हैं? मार्क्स अभी भी सही हैं–इस विषय पर किसी को समझाने के लिए आप कौन से तर्क देंगे?

दुर्खाइम आधुनिक समाज में व्यक्ति को अधिक स्वतंत्रता दिए जाने पर गलत क्यों हो सकते हैं? क्या आप कुछ कारण ढूँढ़ सकते हैं? उदाहरणतः क्या यह सत्य नहीं है कि जनसंचार सुविधाओं (विशेषकर टेलीविज़न) ने लोकप्रिय फैशन को, कपड़ों तथा संगीत को मानकीकृत किया है? पहले की तुलना में आज के नवयुवक जो विभिन्न सामाजिक समूहों, देशों, राज्यों, अथवा धर्मों के हैं; ज़्यादातर एक ही प्रकार का संगीत सुनते हैं। क्या यह दुर्खाइम को गलत साबित करता है? इस संदर्भ के पक्ष तथा विपक्ष में क्या तर्क हो सकते हैं?

ध्यान रखिए–समाजशास्त्र गणित की तरह नहीं है जहाँ अधिकतर एक ही सही उत्तर होता है। समाज तथा व्यक्तियों से संबंधित किसी भी चीज़ के एक से अधिक सही उत्तर हो सकते हैं अथवा एक संदर्भ में वह सही तथा दूसरे में गलत हो सकते हैं अथवा आंशिक सत्य अथवा असत्य हो सकते हैं इत्यादि। दूसरे शब्दों में, सामाजिक दुनिया बहुत जटिल है और यह समय तथा स्थानानुसार बदलती रहती है। यह सीखने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि कैसे कारणों के विषय में ध्यानपूर्वक सोचा जाए कि विशिष्ट उत्तर ही विशिष्ट संदर्भ में सही अथवा गलत क्यों होते हैं, इसका पता लगा सकें।

© NCERT not to be republished

बिलकुल स्पष्ट अभिव्यक्ति सामाजिक एकता में होती है। उनके उद्देश्य तथा सामाजिक संबंधों के धर्मनिरपेक्ष विश्लेषण (जो विभिन्न समाजों में विद्यमान होते हैं) ने समाजशास्त्र को समाज में एक नवीन विज्ञान के रूप में स्थापित करने की नींव डाली।

मैक्स वैबर (1864-1920)

मैक्स वैबर का जन्म 21 अप्रैल 1864 को एरफर्ट (जर्मनी) के एक परशियन परिवार में हुआ। इनके पिता एक मजिस्ट्रेट तथा राजनीतिज्ञ थे जो एक राजशाही बिस्मार्क के अनुयायी थे। इनकी माता हेडेलबर्ग के विशिष्ट उदार परिवार से संबंधित थीं।

1882	:	कानून की शिक्षा के लिए हेडेलबर्ग गए।
1884	:	गोटिजेन तथा बर्लिन विश्वविद्यालयों में अध्ययन।
1889	:	डॉक्टरेट शोध प्रपत्र *ए कॉन्ट्रीब्यूशन टू द हिस्ट्री ऑफ मेडिवियल बिज़नेस ऑरगेनाईज़ेशन्स* जमा किया।
1891	:	हैविलिटेशन शोधपत्र *रोमन एग्रेरियन हिस्ट्री एंड द सिगनिफिकेंस फॉर पब्लिक एंड प्राइवेट लॉ* जमा किया (शिक्षण के लिए आवश्यक)।
1893	:	मैरिआन शिन्टजर से विवाह।
1894–96	:	प्रोफ़ेसर (अर्थशास्त्र) के रूप में पहले फ्रेबर्ग तथा बाद में हैडेलबर्ग में नियुक्ति।
1897–1901	:	तंत्रिका भंग होने के कारण गंभीर रूप से बीमार; कार्य करने में असमर्थ, रोम चले गए।
1901	:	शिक्षण के क्षेत्र में पुनः लेखन।
1903	:	*आर्काइव्स फॉर सोशल साइंस एंड सोशल वेलफेयर* के सह-संपादक।
1904	:	अमेरिका भ्रमण; *द प्रोटेस्टेंट एथिक एंड द स्पीरिट ऑफ कैपिटलिज़्म* का प्रकाशन।
1918	:	वियेना में विशेष रूप से स्थापित समाजशास्त्र विभाग का कार्यभार संभाला।
1919	:	म्यूनिख़ विश्वविद्यालय में प्रोफ़ेसर (अर्थशास्त्र) के रूप में नियुक्ति।
1920	:	निधन।
		इनकी मृत्यु के पश्चात ही इनके अधिकतर लेखन कार्यों का प्रकाशन तथा अनुवाद हुआ। ये हैं—*द प्रोटेस्टेंट एथिक एंड द स्पीरिट ऑफ कैपिटलिज़्म* (1930), *फ्रॉम मैक्स वैबर—ऐसेज इन सोशयोलॉजी* (1946), *मैक्स वैबर ऑन द मेथोडोलॉजी ऑफ सोशल साइंसेज़* (1949), द *रिलिजन ऑफ इंडिया* (1958) तथा *इकॉनामी एंड सोसायटी* (3 खंड 1968)।

© NCERT not to be republished

मैक्स वैबर जर्मनी में अपने समय के महत्त्वपूर्ण सामाजिक विचारक थे। सामाजिक तथा मानसिक तौर पर काफी लंबे समय तक बीमार रहने पर भी अपने पीछे समाजशास्त्रीय लेखन का एक अपूर्व भंडार छोड़ गए हैं। उन्होंने कई विषयों पर विस्तारपूर्वक लिखा है परंतु मुख्यत: सामाजिक क्रिया, व्याख्यात्मक समाजशास्त्र तथा शक्ति और वर्चस्व के विकास पर कार्य किया है। वैबर के चिंतन का दूसरा विषय आधुनिक समाज में युक्तिसंगत प्रक्रिया, विश्व के विभिन्न धर्मों का संबंध इस प्रक्रिया से है।

मैक्स वैबर और व्याख्यात्मक समाजशास्त्र

वैबर ने यह तर्क दिया कि सामाजिक विज्ञानों का पूर्ण उद्देश्य 'सामाजिक क्रिया की व्याख्यात्मक सोच' का विकास करना है। अत: ये विज्ञान, प्राकृतिक विज्ञान से बहुत अलग थे, जिनका उद्देश्य 'प्रकृति के नियमों' की खोज था, जो इस भौतिक विश्व को संचालित करते हैं। चूँकि सामाजिक विज्ञानों का सामाजिक क्रियाओं से मुख्य सरोकार था तथा मानवीय क्रियाएँ मुख्यत: विषयगत अर्थों से संबद्ध होती हैं, अत: सामाजिक विज्ञान की पद्धतियाँ प्राकृतिक विज्ञान की पद्धतियों से भिन्न होंगी। वैबर के लिए 'सामाजिक क्रिया' में वे सब मानवीय व्यवहार सम्मिलित थे जो अर्थपूर्ण थे अर्थात् वे क्रियाएँ जिनसे कर्ता किसी अर्थ को संबंद्ध करता हो। सामाजिक क्रिया के अध्ययन में समाजशास्त्री का कार्य उन अर्थों को ढूँढ़ना था जो कर्ता द्वारा समझे जाते थे। इस कार्य को पूर्णता देने के लिए समाजशास्त्री को स्वयं उस कर्ता के स्थान पर अपने आपको रखकर यह कल्पना करनी होती थी कि इनके अर्थ क्या हैं और क्या हो सकते थे। अत: समाजशास्त्र सुव्यवस्थित रूप से 'समानुभूति' अर्थात् ऐसी समझ जो 'अनुभूति' (समानुभूति) पर आधारित न हो बल्कि 'अनुभूति के साथ' (समानुभूति) हो। 'समानुभूति' को समाजशास्त्री इस अभ्यास से निकालते हैं, वह उन्हें सामाजिक कर्ताओं के विषयगत अर्थों को समझने तथा उनके अभिप्रेरकों को समझने में मदद करता है।

वैबर पहले व्यक्ति थे जिन्होंने विशेष तथा जटिल प्रकार की 'वस्तुनिष्ठता' की बात की जिसे सामाजिक विज्ञान को अपनाना था। सामाजिक विश्व की खोज मनुष्य के अर्थों, मूल्यों, समझ, पूर्वाग्रह, आदर्शों इत्यादि पर आधारित है। इस दुनिया के अध्ययन हेतु, सामाजिक विज्ञान को इन विषयगत अर्थों को समझने के लिए तथा उसका संपूर्ण वर्णन करने के लिए, सामाजिक वैज्ञानिकों को सदैव 'समानुभूति समझ' को अपनाना पड़ेगा और इसे अपनाने के लिए स्वयं उनके स्थान पर (काल्पिक रूप से) जिनकी क्रियाओं का वे अध्ययन कर रहे होते हैं उन्हें रखना पड़ेगा। लेकिन यह अध्ययन वस्तुनिष्ठ तरीके से करना था हालाँकि यह विषयगत मामला था। अत: 'समानुभूति समझ' के लिए यह आवश्यक है कि समाजशास्त्री, बिना स्वयं की निजी मान्यताओं तथा प्रक्रिया से प्रभावित हुए, पूर्णरूपेण विषयगत अर्थों तथा सामाजिक कर्ताओं की अभिप्रेरणाओं को ईमानदारीपूर्वक अभिलिखित करें। दूसरे शब्दों में, समाजशास्त्री दूसरों की विषयगत भावनाओं का वर्णन करें न कि परखें। वैबर ने इस प्रकार

की वस्तुनिष्ठता को 'मूल्य तटस्थता' कहा है। समाजशास्त्री इन विषयगत मूल्यों का ब्यौरा तटस्थ होकर, इन मूल्यों के प्रति बिना अपनी भावनाओं में बहे, करते हैं। वैबर ने यह बताया कि यह बेहद कठिन था क्योंकि सामाजिक वैज्ञानिक समाज के सदस्य भी होते हैं और उनकी अपनी मान्यताएँ तथा पूर्वाग्रह होते हैं। हालाँकि उन्हें स्व–अनुशासन के लिए अधिक प्रयत्न करना पड़ता है–'लौह संकल्पशक्ति का अभ्यास जैसा उन्होंने कहा है–ताकि दूसरों के मूल्यों तथा विश्वदृष्टिकोण का वर्णन करते हुए वे तटस्थ रहें।'

समानुभूत समझ के अतिरिक्त, वैबर ने समाजशास्त्र के लिए एक अन्य पद्धतिशास्त्रीय उपकरण 'आदर्श प्रारूप' की बात की। 'आदर्श प्रारूप' सामाजिक घटना का तार्किक एकरूपीय मॉडल है जो इसकी सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषताओं को रेखांकित करता है। विश्लेषण में मदद के लिए बनाए गए अवधारणात्मक प्रारूप होने के कारण इसका निर्माण वास्तविकता को हू–ब–हू दर्शाने के लिए नहीं हुआ है। 'आदर्श प्रारूप' प्रघटना प्रारूपों को जो विश्लेषणात्मक रूप से महत्त्वपूर्ण होती हैं, उसे बढ़ा–चढ़ाकर तथा दूसरों को नजरअंदाज़ अथवा कमतर दिखाते हैं। व्यापक रूप से 'आदर्श प्रारूप' को वास्तविकता के समरूप होना चाहिए परंतु इसका मुख्य कार्य अध्ययनरत सामाजिक प्रघटना के मुख्य प्रारूपों को जोड़ने तथा उनके विश्लेषण में सहायता करना है। आदर्श प्रारूप विश्लेषण तथा समझने में कितने सहायक हैं–इस तथ्य पर उन्हें जाँचा जाता है, न कि यह कि वे कितने यथार्थ अथवा विस्तारपूर्वक उसकी विवेचना करते हैं।

विश्व के अलग–अलग धर्मों के नैतिक संबंधों और अलग–अलग सभ्यताओं की सामाजिक व्यवस्था को समझने और उसका विश्लेषण करने के लिए वैबर ने एक आदर्श प्रारूप तैयार किया था। इसी के संदर्भ में वैबर ने सुझाव दिया था कि यूरोप में पूँजीवाद के आगमन एवं विकास के लिए कुछ प्रोटेस्टेंट इसाई वर्गों के मूल्यों ने बहुत ही गहरे रूप से प्रभावित किया था।

वैबर ने पुनः आदर्श प्रारूपों का प्रयोग तीन विभिन्न प्रकार की सत्ता को परिभाषित करने के लिए किया। वे हैं–पारंपरिक, करिश्माई तथा तर्कसंगत–वैधानिक। जहाँ पारंपरिक सत्ता का उद्‌भव प्रथा तथा प्रचलन से हुआ था वहीं करिश्माई सत्ता का उद्‌भव 'दैविक स्रोतों' अथवा ईश्वर की देन में ढूँढ़ा गया तथा सत्ता जो तर्कसंगत–वैधानिकता पर आधारित थी, उसका आधार कानून था। तर्कसंगत–वैधानिक सत्ता जिसका प्रचलन आधुनिक युग में भी देखा जा सकता है, नौकरशाही उसका प्रतीक है।

नौकरशाही

नौकरशाही संगठन का वह साधन था जो घरेलू दुनिया को सार्वजनिक दुनिया से अलग करने पर आधारित था। इसका अर्थ यह हुआ कि सार्वजनिक क्षेत्र में व्यवहार स्पष्ट नियमों से संचालित होते थे। इसके अतिरिक्त, सार्वजनिक संस्था के रूप में, नौकरशाही कर्मचारियों की शक्तियों को उनकी ज़िम्मेदारियों की तुलना में प्रतिबंधित करती है तथा उन्हें संपूर्ण शक्ति प्रदान नहीं करती।

नौकरशाही सत्ता की विशिष्टताएँ हैं–

(क) अधिकारियों के प्रकार्य (कार्य)।

(ख) पदों का सोपानिक क्रम।

(ग) लिखित दस्तावेज़ों की विश्वसनीयता।

(घ) कार्यालय का प्रबंधन।

(ङ) कार्यालयी आचरण।

(i) *अधिकारियों का प्रकार्य*–नौकरशाही के अंतर्गत 'कार्यालयी क्षेत्राधिकार' होते हैं जिनका संचालन नियम, कानून तथा प्रशासनिक विधानों द्वारा होता है। नौकरशाही संस्थान के नियमित क्रियाकलाप का बँटवारा नियत रूप से सरकारी कर्तव्यों के रूप में होता है। इसके अतिरिक्त, उच्च अधिकारी द्वारा अधीनस्थ वर्गों को आदेश स्थायी रूप से दिए जाते हैं, परंतु उनकी ज़िम्मेदारियों को परिसीमित कर उसका जिम्मा योग्य अधिकारियों को दिया जाता है। चूँकि, कर्तव्यों का निर्वहन नियमित रूप से किया जाना होता है अतः केवल उन्हीं व्यक्तियों को नौकरी पर रखा जाता है जिनके पास उससे संबंधित योग्यताएँ होती हैं। नौकरशाही में सरकारी पद पदधारी से स्वतंत्र होते हैं क्योंकि वे उनके कार्यकाल के पश्चात भी बने रहते हैं।

(ii) *सोपानिक क्रम*–अधिकारी तथा कार्यालय श्रेणीगत सोपान पर आधारित होते हैं जहाँ उच्च अधिकारी द्वारा निम्न अधिकारियों का निर्देशन किया जाता है। निम्न अधिकारियों के निर्णय से असंतुष्टता की स्थिति में उच्च अधिकारियों से अपील की गुंजाइश रहती है।

(iii) *लिखित दस्तावेज़ों की विश्वसनीयता*– नौकरशाही व्यवस्थाओं का प्रबंधन लिखित दस्तावेज़ों के आधार पर चलाया जाता है तथा फ़ाइलों को रिकॉर्ड के रूप में सँभाल कर रखा जाता है। कार्यालय अथवा ब्यूरों का निर्णायक तंत्र मिलजुल कर निर्णय लेने लगा है। यह सार्वजनिक अधिकार क्षेत्र का भाग होता है जो अधिकारियों के निजी जीवन से अलग होता है।

(iv) *कार्यालय प्रबंधन*–चूँकि कार्यालय प्रबंधन विशिष्ट तथा आधुनिक क्रिया है अतः यहाँ कार्य के लिए प्रशिक्षित और कुशल कर्मचारियों की आवश्यकता होती है।

(v) *कार्यालयी आचरण*–कार्यालयी क्रियाकलाप कर्मचारियों से संपूर्ण एकाग्रता की अपेक्षा करते हैं, बिना इसके कार्यालय में उसका समय परीसीमित ही क्यों न हो। अतः कार्यालय में एक कर्मचारी का आचरण नियमों तथा कानूनों द्वारा नियंत्रित होता है। ये उनके सार्वजनिक आचरण को निजी व्यवहार से अलग करते हैं। चूँकि ये नियम तथा विधान कानूनी रूप में पहचाने जाते हैं। अतः कर्मचारियों को इसके लिए ज़िम्मेदार ठहराया जा सकता है।

वैबर द्वारा नौकरशाही का राजनीतिक सत्ता के आधुनिक रूप में चरित्रांकन नहीं किया गया है। इसने दिखाया कि किस प्रकार एक कर्ता अपने कौशल तथा प्रशिक्षण के लिए भी

© NCERT not to be republished

पहचाना/पहचानी जाता/जाती है तथा उन्हें ज़िम्मेदारियों को लागू तथा पूर्ण करने के लिए आवश्यक शक्ति दी जाती है। कानूनी परिसीमितता ने उनके कार्यों तथा सत्ता को, अनियंत्रित शक्तियों को सीमित कर, कर्मचारियों को अपने सेवार्थियों के प्रति ज़िम्मेदार बनाया क्योंकि वह कार्य सार्वजनिक क्षेत्र में पूरा किया जाता था।

क्रियाकलाप 4

आप किस हद तक सोचते हैं कि कहाँ तक निम्नलिखित समूहों अथवा गतिविधियों में वैबर के अर्थों में नौकरशाही सत्ता का प्रयोग हुआ है?
(क) आपकी कक्षा (ख) आपका विद्यालय (ग) फुटबॉल टीम (घ) एक गाँव की पंचायत समिति (ङ) लोकप्रिय अभिनेता के प्रशंसकों का संघ (च) ट्रेन अथवा बस में रोज़ाना सफर करने वाले लोगों का समूह (छ) सामूहिक परिवार (ज) ग्रामीण समुदाय (झ) जहाज का क्रू (ञ) अपराधियों का गिरोह (ट) धार्मिक नेता के अनुयायी (ठ) सिनेमा घर में सिनेमा देखते हुए लोग।

आपकी चर्चा के आधार पर किस समूह को आप 'नौकरशाही' के रूप में पहचानेंगे? आप पक्ष तथा विपक्ष–दोनों तथ्यों पर चर्चा कीजिए तथा जो आपसे असहमत हों उन्हें ध्यानपूर्वक सुनिए!

शब्दावली

अलगाव–पूँजीवादी समाज में ऐसी प्रक्रिया जिसके अंतर्गत मनुष्य प्रकृति से (अथवा अजनबी बना दिया जाता है), अन्य मनुष्यों से, उनके कार्य तथा उत्पाद से स्वयं को दूर महसूस करता है।

ज्ञानोदय–18वीं शताब्दी के यूरोप का ऐसा समय जब दार्शनिकों ने धार्मिक सिद्धांतों की सर्वमान्यता को एक सिरे से नकार दिया, सत्य के लिए कारण को मुख्य माना तथा मनुष्य को उस कारण का एकमात्र निमित्त माना गया।

सामाजिक तथ्य–सामाजिक वास्तविकता का एक पक्ष जो आचरण तथा मान्यताओं के सामाजिक प्रतिमान से संबंधित है, जो व्यक्ति द्वारा बनाया नहीं गया है परंतु उनके व्यवहार पर दबाव डालता तथा उन्हें प्रभावित करता है।

उत्पादन के साधन–भौतिक उत्पादन की एक प्रणाली जो एक लंबे समय तक चलती है। प्रत्येक उत्पादन का साधन अपने उत्पादन के तरीकों (उदाहरण–तकनीकी तथा उत्पादन संगठन के प्रकार) तथा उत्पादन से उसके संबंधों से (उदाहरण–दासत्व, सर्फ, वैतनिक मजदूर) पहचाना जाता है।

ऑफ़िस–(नौकरशाही के संदर्भ में) सरकारी पद अथवा औपचारिक शक्ति तथा निर्वैयक्तिक स्थिति जहाँ शक्तियाँ तथा कर्तव्य परिलक्षित होते हैं; ऑफ़िस का अलग अस्तित्व होता है जो व्यक्ति से संबंधित नहीं होता। (इसी शब्द के अन्य अर्थ से भिन्न जो वास्तविक नौकरशाही संस्था अथवा उसकी वास्तविक भौतिक स्थिति को इंगित करता है। उदाहरण: पोस्ट ऑफ़िस, पंचायत ऑफ़िस; प्रधानमंत्री ऑफ़िस, मेरे पिता अथवा माता का ऑफ़िस इत्यादि।

अभ्यास

1. बौद्धिक ज्ञानोदय किस प्रकार समाजशास्त्र के विकास के लिए आवश्यक है?
2. औद्योगिक क्रांति किस प्रकार समाजशास्त्र के जन्म के लिए उत्तरदायी है?
3. उत्पादन के तरीकों के विभिन्न घटक कौन-कौन से हैं?
4. मार्क्स के अनुसार विभिन्न वर्गों में संघर्ष क्यों होते हैं?
5. 'सामाजिक तथ्य' क्या हैं? हम उन्हें कैसे पहचानते हैं?
6. 'यांत्रिक' और 'सावयवी' एकता में क्या अंतर है?
7. उदाहरण सहित बताएँ कि नैतिक संहिताएँ सामाजिक एकता को कैसे दर्शाती हैं?
8. 'नौकरशाही' की बुनियादी विशेषताएँ क्या हैं?
9. सामाजिक विज्ञान में किस प्रकार विशिष्ट तथा भिन्न प्रकार की वस्तुनिष्ठता की आवश्यकता होती है?
10. क्या आप ऐसे किसी विचार अथवा सिद्धांत के बारे में जानते हैं जिसने आधुनिक भारत में किसी सामाजिक आंदोलन को जन्म दिया हो?
11. मार्क्स तथा वैबर ने भारत के विषय में क्या लिखा है–पता करने की कोशिश कीजिए।
12. क्या आप कारण बता सकते हैं कि हमें उन चिंतकों के कार्यों का अध्ययन क्यों करना चाहिए जिनकी मृत्यु हो चुकी है? इनके कार्यों का अध्ययन न करने के कुछ कारण क्या हो सकते हैं?

संदर्भ

बेनेडिक रेन्हार्ड, 1960: *मैक्स वैबर: ऐन इंटेलेक्चुअल पोरट्रेट*, एन्कर बुक्स, न्यूयॉर्क।

दुर्खाइम, एमिल, 1964: द *डिवीजन ऑफ लेबर इन सोसायटी*, जॉर्ज सिम्पसन (अनु.), मैकमिलन, न्यूयॉर्क।

इग्नू, 2004. ई.एस.ओ. 13-1: *अर्ली सोशयोलॉजी*, नयी दिल्ली।

© NCERT not to be republished

अध्याय 5

भारतीय समाजशास्त्री

जैसा कि आपने प्रथम भाग की पाठ्यपुस्तक *समाजशास्त्र परिचय* के पहले अध्याय में देखा कि यूरोपियन संदर्भ में भी यह विषय काफी नया है जिसकी स्थापना लगभग सौ वर्षों पहले की गई। भारत में समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में सोच-विचार सौ वर्षों से भी कुछ पुराना है लेकिन विश्वविद्यालयों में समाजशास्त्र की औपचारिक शिक्षा 1919 ई. में बंबई विश्वविद्यालय में प्रारंभ हुई। सन् 1920 में दो अन्य विश्वविद्यालयों—कलकत्ता तथा लखनऊ—ने भी समाजशास्त्र तथा मानवविज्ञान में शिक्षण तथा शोधकार्य प्रारंभ किया। आज प्रत्येक प्रमुख विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र विभाग, सामाजिक मानवविज्ञान अथवा मानवविज्ञान विभाग हैं और ज़्यादातर इनमें से एक से अधिक का प्रतिनिधित्व होता है।

अन्य कई संस्थापित विषयों की तरह ही आजकल समाजशास्त्र को भी भारत में स्वीकारा जाता है लेकिन यह हमेशा से ऐसा नहीं था। अपने प्रारंभिक काल में यह बिलकुल स्पष्ट नहीं था कि भारतीय समाजशास्त्र का प्रारूप क्या तथा कैसा होगा और क्या वास्तव में भारत को समाजशास्त्र जैसे किसी विषय की आवश्यकता थी भी या नहीं? 20वीं शताब्दी के पहले पच्चीस सालों में जिन लोगों ने इस विषय में रुचि दिखाई, उन्हें यह स्वयं तय करना था कि भारत में उसकी क्या भूमिका होगी। इस अध्याय में आपका परिचय भारत के कुछ प्रारंभिक संस्थापक समाजशास्त्रियों से करवाया जाएगा। इन विद्वानों ने इस विषय को आकार देने और इसको ऐतिहासिक तथा सामाजिक परिप्रेक्ष्य के अनुकूल करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

भारतीय संदर्भ की विशिष्टता ने कई प्रश्न खड़े किए। सर्वप्रथम यदि पाश्चात्य समाजशास्त्र का उद्भव आधुनिकता को समझने के प्रयास के रूप में हुआ, तो भारत जैसे देश में इसकी क्या भूमिका होगी? भारत भी आधुनिकता द्वारा लाए गए परिवर्तनों को महसूस कर रहा था परंतु यहाँ एक महत्त्वपूर्ण अंतर था और वह था एक उपनिवेश के रूप में भारत। भारत में आधुनिकता का पहला अनुभव और औपनिवेशिक पराधीनता का अनुभव दोनों आपस में घुले-मिले थे। दूसरा, यदि मानवविज्ञान का उद्भव यूरोपियन समाज की 'आदिम संस्कृतियों' को जानने की उत्सुकता के संदर्भ में हुआ तो भारत में उसकी क्या भूमिका हो? भारत स्वयं एक प्राचीन एवं विकसित

© NCERT not to be republished

सभ्यता के रूप में जाना जाता था लेकिन इसमें 'आदिम' (या आदिवासी) समाज भी पाए जाते थे। अंत में भारत जैसे संपन्न, स्वतंत्र, नवराष्ट्र जो नियोजित विकास तथा प्रजातंत्र की ओर बढ़ रहा है, वहाँ समाजशास्त्र की क्या महत्त्वपूर्ण भूमिका हो?

भारतीय समाजशास्त्र के अग्रणी लोगों को इन प्रश्नों के उत्तर ही नहीं ढूँढ़ने थे बल्कि उन्हें अपने लिए नए प्रश्नों को भी तलाशना था। भारतीय संदर्भ में यह सिर्फ़, 'करने' के अनुभव से ही संभव था—जिससे समाजशास्त्रीय प्रश्नों को एक आकार मिला; यह पूर्व निर्मित रूप में उपलब्ध नहीं थे जैसा कि देखा जा सकता है। भारतीय समाजशास्त्री तथा मानवविज्ञानी, अधिकतर अचानक ही बन गए। उदाहरण के तौर पर, भारत के बेहतरीन तथा सर्वप्रथम सामाजिक मानवविज्ञानी श्री एल.के. अनन्तकृष्ण अय्यर (1861-1937) ने अपने व्यवसाय की शुरुआत एक क्लर्क के रूप में की; फिर स्कूली शिक्षक और उसके बाद कोचीन रजवाड़े के महाविद्यालय में शिक्षक के रूप में नियुक्त हुए, जो आज केरल राज्य का एक भाग है। सन् 1902 में कोचीन के दीवान द्वारा इन्हें राज्य के नृजातीय सर्वेक्षण (एथनोग्रैफिक सर्वे) में मदद के लिए कहा गया। ब्रिटिश सरकार इसी प्रकार का सर्वेक्षण सभी रजवाड़ों तथा इलाकों में करवाना चाहती थी जो प्रत्यक्ष रूप से उनके नियंत्रण में आते थे। अनन्तकृष्ण अय्यर ने इस कार्य को पूर्णरूपेण एक स्वयंसेवी के रूप में किया। महाविद्यालय के शिक्षक के रूप में, एरनाकुलम स्थित महाराजा कॉलेज में पढ़ाते हुए, इसके लिए उन्होंने सप्ताहांतों में नृजातीय विभाग में अवैतनिक सुपरिंटेंडेंट के रूप में कार्य किया। उनके काम की अपने समय के ब्रिटिश मानवविज्ञानी तथा प्रशासकों ने काफ़ी प्रशंसा की तथा बाद में उन्हें इसी प्रकार के सर्वेक्षण में सहायता करने के लिए मैसूर रजवाड़े में आमंत्रित किया गया।

अनन्तकृष्ण अय्यर संभवतः पहले शिक्षित मानवविज्ञानी थे, जिन्हें एक विद्वान तथा शिक्षाविद् के रूप में राष्ट्रीय तथा अंतरराष्ट्रीय रूप में ख्याति मिली। उन्हें मद्रास विश्वविद्यालय में व्याख्यान देने के लिए आमंत्रित किया गया और बाद में कलकत्ता विश्वविद्यालय में रीडर के रूप में उनकी नियुक्ति की गई, जहाँ उन्होंने भारत के सर्वप्रथम स्नातकोत्तर मानवविज्ञान विभाग की स्थापना करने में मदद की। सन् 1917-1932 तक वे कलकत्ता विश्वविद्यालय में ही रहे। हालाँकि, मानवविज्ञान में उनके पास कोई औपचारिक उपाधि नहीं थी, परंतु उन्हें इंडियन साइंस कांग्रेस के नृजातीय विभाग का अध्यक्ष चुना गया। यूरोपियन विश्वविद्यालयों में अपने भाषणों तथा भ्रमण के दौरान जर्मनी विश्वविद्यालय द्वारा उन्हें डॉक्ट्रेट की मानद उपाधि दी गई। कोचीन रजवाड़े की तरफ़ से उन्हें राय बहादुर तथा दीवान बहादुर की उपाधि से सम्मानित किया गया।

कानूनविद् शरत चंद्र रॉय (1871-1942) एक अन्य मानवविज्ञानी हैं जो भारत में इस वर्ग के अग्रणी थे तथा अकस्मात मानवविज्ञानी बने। कलकत्ता के रिपन कॉलेज से कानून की डिग्री लेने से पूर्व, रॉय ने अंग्रेज़ी विषय में स्नातक तथा स्नातकोत्तर की उपाधि हासिल की थी। कुछ दिनों कानून की प्रैक्टिस करने के बाद सन्

1898 में राँची जाकर ईसाई मिशनरी विद्यालय में अंग्रेज़ी के शिक्षक के रूप में कार्य करने का निर्णय लिया। उनके इस निर्णय ने उनके भावी जीवन को बदल दिया, क्योंकि अगले 44 वर्षों तक वे राँची में रहे तथा छोटानागपुर प्रदेश (आज का झारखंड) में रहने वाली जनजातियों की संस्कृति तथा समाज के विशेषज्ञ बने। रॉय की मानवविज्ञान में रुचि तब बढ़ी जब उन्होंने स्कूल का काम छोड़ दिया तथा राँची की अदालत में कानून की प्रैक्टिस शुरू की। आगे चलकर उन्हें सरकारी दुभाषिए के रूप में अदालत में नियुक्त किया गया।

रॉय की रुचि जनजातीय समाज में बढ़ी जो वास्तव में उनकी नौकरी की आवश्यकताओं का प्रतिफल था क्योंकि अदालत में वे जनजातियों की परंपरा तथा कानूनों को दुभाषित करते थे। उन्होंने जनजातीय क्षेत्रों का व्यापक भ्रमण किया तथा उनके बीच रहकर गहन क्षेत्रीय अध्ययन किया। यह सभी कार्य शौकिया आधार पर किया गया परंतु उनकी मेहनत तथा बारीकियों को ध्यानपूर्वक देखने तथा समझने के कौशल ने शोधकार्य के लिए महत्त्वपूर्ण तथ्य तथा लेखन सामग्री तैयार की। अपने पूरे सेवाकाल में रॉय के सौ से अधिक लेख राष्ट्रीय तथा ब्रिटिश शैक्षिक जर्नल में प्रकाशित हुए। इसके साथ ही इनके द्वारा ओराँव, मुंडा तथा खरिया जनजातियों पर किया गया सर्वप्रसिद्ध लेखन कार्य भी प्रकाशित हुआ। शीघ्र ही रॉय भारत तथा ब्रिटेन में जाने-माने मानवविज्ञानी के रूप में विख्यात हुए तथा 'छोटा नागपुर' के विशेषज्ञ के रूप में उनकी पहचान बनी। 1922 में उन्होंने *मैन इन इंडिया* नामक जर्नल की स्थापना की, जो कि अपने समय तथा प्रकार का पहला जर्नल था तथा आज भी जिसका प्रकाशन भारत में होता है।

अनन्तकृष्ण अय्यर तथा शरतचंद्र रॉय–दोनों सही मायनों में इस क्षेत्र के अग्रणी विद्वान थे। 1900 के प्रारंभ में ही उन्होंने एक ऐसे विषय पर कार्य करना प्रारंभ किया जो भारत में न तो अभी तक विद्यमान था और न ही कोई ऐसी संस्था थी जो इसे किसी प्रकार का संरक्षण देती थी। दोनों–अय्यर तथा रॉय–का जन्म तथा मृत्यु अंग्रेज़ों द्वारा शासित भारत में हुई। इस अध्याय में आपका परिचय चार भारतीय समाजशास्त्रियों से करवाया जाएगा, जिन्होंने अय्यर तथा रॉय के एक पीढ़ी बाद जन्म लिया। ये सभी औपनिवेशिक भारत में जन्मे परंतु इनका कार्य स्वतंत्र भारत में चलता रहा तथा इन्होंने पहली औपचारिक संस्थाओं की रूपरेखा बनाई जिस पर आगे चल कर भारतीय समाजशास्त्र जैसी औपचारिक संस्थाओं की स्थापना की गई। जी.एस. घूर्ये तथा डी.पी. मुकर्जी का जन्म 1890 के दशक में हुआ जबकि ए.आर. देसाई तथा एम.एस. श्रीनिवास का जन्म इनसे लगभग पंद्रह वर्ष बाद अर्थात बीसवीं सदी के दूसरे दशक में हुआ हालाँकि ये सब बहुत गहराई से समाजशास्त्र की पाश्चात्य परंपरा से प्रभावित थे। ये उन प्रश्नों का उत्तर देने में भी सक्षम थे जोकि कुछ अग्रणी विद्वानों द्वारा पूछे जा सकते थे कि विशिष्ट भारतीय समाजशास्त्र किस प्रकार का आकार लेगा।

जी. एस. घूर्ये को भारत में समाजशास्त्र को एक संस्थागत रूप में स्थापित करने का श्रेय दिया जाता है। बंबई विश्वविद्यालय में इन्होंने

गोविंद सदाशिव घूर्ये (1893-1983)

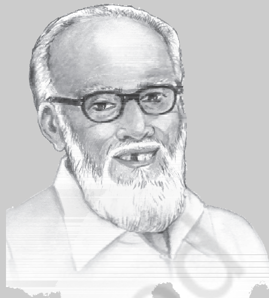

गोविंद सदाशिव घूर्ये का जन्म 12 दिसंबर 1893 को मालवान, पश्चिम भारत के कोंकण तटीय प्रदेश के छोटे से कस्बे में हुआ था। उनका परिवार एक संपन्न व्यापारी था, लेकिन बाद में उसका पतन हो गया।

1913 : एलफिंस्टन कॉलेज, मुंबई में प्रवेश। संस्कृत (ऑनर्स) में स्नातक। स्नातकोत्तर की उपाधि संस्कृत तथा अंग्रेज़ी में, इसी कॉलेज से 1918 में।

1919 : समाजशास्त्र में विदेश में प्रशिक्षण हेतु छात्रवृत्ति के लिए चयनित। प्रारंभ में लंदन स्कूल ऑफ़ इकॉनामिक्स में एल.टी. हॉबहाऊस, अपने समय के प्रमुख समाजशास्त्री, के द्वारा पढ़ाए गए। बाद में केम्ब्रिज में डब्लू.एच.आर. रिवर्स द्वारा पढ़ाए गए और उनके प्रसारवादी दृष्टिकोण से प्रभावित हुए।

1923 : 1922 में रिवर्स के अकस्मात निधन के पश्चात ए. सी. हैडन के निर्देशन में पीएच.डी. की उपाधि प्राप्त की। मई में मुंबई वापस आए। *कास्ट एंड रेस इन इंडिया* पीएच.डी. पर आधारित पांडुलिपि पर केम्ब्रिज में पुस्तकों की एक श्रृंखला प्रकाशित करने के लिए स्वीकृत हुई।

1924 : थोड़े समय तक कोलकाता में रहने के पश्चात, बंबई विश्वविद्यालय में रीडर तथा विभागाध्यक्ष के रूप में नियुक्ति। जहाँ अगले 35 वर्ष तक रहे।

1936 : बंबई विश्वविद्यालय के विभाग में पीएच.डी. की उपाधि प्रारंभ की, भारतीय विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र में प्रथम पीएच.डी. उपाधि, घूर्ये के निर्देशन में जी.आर. प्रधान को प्रदान की गई। स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम को पुनरावृत्त किया और 1945 में पूर्णकालीन 8–कोर्स में समाजशास्त्र का पाठ्यक्रम प्रारंभ किया।

1951 : घूर्ये द्वारा 'इंडियन सोशयोलॉजिकल सोसायटी, की स्थापना की गई तथा वे इसके संस्थापक अध्यक्ष बने। 'द इंडियन सोशयोलॉजिकल सोसायटी' ने 1952 में अपने जर्नल, *सोशयोलॉजिकल बुलेटिन* का प्रकाशन प्रारंभ किया।

1959 : 1959 में विश्वविद्यालय से सेवानिवृत्त हुए, लेकिन शैक्षिक जीवन में क्रियाशील रहे, मुख्य रूप से प्रकाशन के क्षेत्र में–30 में से 17 पुस्तकें उन्होंने सेवानिवृत्त होने के बाद लिखीं।

मृत्यु : 1983 में 90 वर्ष की आयु में जी. एस. घूर्ये का निधन हो गया।

सर्वप्रथम स्नातकोत्तर स्तर पर समाजशास्त्र विभाग में शिक्षण कार्य की अध्यक्षता की तथा पैंतीस वर्षों तक इस विभाग में कार्य किया। उनके निर्देशन में बड़ी संख्या में काम करने वाले शोध विद्यार्थी आज भी इस विषय में महत्त्वपूर्ण स्थानों पर कार्यरत हैं। इन्होंने 'इंडियन सोशयोलॉजिकल सोसायटी' की स्थापना की तथा *सोशयोलॉजिकल बुलेटिन* नामक जर्नल भी निकाला। उनके शैक्षणिक लेख न केवल बहुसर्जक होते थे बल्कि जिन विषयों पर उन्होंने लेखन किया वे काफ़ी विस्तृत होते थे। ऐसे समय में जबकि विश्वविद्यालय शोध के लिए दी जाने वाली वित्तीय तथा संस्थागत सहायता काफ़ी सीमित थी; घूर्ये ने समाजशास्त्र का एक भारतीय विषय के रूप में पोषण किया। घूर्ये द्वारा स्थापित बंबई विश्वविद्यालय विभाग ऐसा पहला विभाग बना, जिसने सर्वप्रथम सफलतापूर्वक दो मुख्य कार्यक्रमों (विषयों) को लागू किया जिन्हें आगे चलकर उत्साहपूर्वक इनके उत्तराधिकारियों द्वारा अपनाया गया। ये थे—सक्रिय रूप से शिक्षण तथा शोधकार्य का एक ही संस्था में किया जाना, तथा सामाजिक मानवविज्ञान और समाजशास्त्र को एक बृहत वर्ग के रूप में स्थापित करना।

घूर्ये की पहचान जाति और प्रजाति पर उनके द्वारा किए गए बेहतरीन कार्यों से होती है लेकिन इसके अतिरिक्त इन्होंने बृहत विषयों; जैसे— जनजाति, नातेदारी, परिवार और विवाह; संस्कृति, सभ्यता और नगरों की ऐतिहासिक भूमिका; धर्म; तथा संघर्ष और एकीकरण का समाजशास्त्र। बौद्धिक तथा संदर्भगत सरोकारों जिन्होंने घूर्ये को प्रभावित किया; उनमें सबसे प्रमुख हैं—प्रसारवाद, हिंदू धर्म तथा सिद्धांत पर प्राच्य छात्रवृत्ति, राष्ट्रवाद तथा हिंदू अभिन्नता के सांस्कृतिक पक्ष।

एक प्रमुख विषय जिस पर घूर्ये ने कार्य किया वह था 'जनजाति' अथवा 'आदिवासी' संस्कृति। वास्तव में इस विषय पर इनका लेखन, और मुख्य रूप से वेरियर एलविन के साथ हुए वाद-विवाद ने इन्हें समाजशास्त्र तथा शिक्षा की दुनिया से बाहर एक पहचान दी। सन् 1930 और 1940 के दशकों में इस विषय पर काफ़ी वाद-विवाद हुआ कि भारत में जनजातीय समाज का क्या स्थान हो और राज्य उनसे किस प्रकार का व्यवहार करे। कई ब्रिटिश प्रशासक— मानवविज्ञानी भारतीय जनजातियों में रुचि रखते थे और उनका मानना था कि ये आदिम लोग थे जिनकी अपनी विशिष्ट संस्कृति थी जो हिंदू मुख्यधारा से काफ़ी अलग थी। उनका मानना था कि सीधे-सादे जनजातीय लोग हिंदू समाज तथा संस्कृति से न केवल शोषित होंगे बल्कि सांस्कृतिक रूप से भी उनका पतन होगा। इस कारण को ध्यान में रखते हुए उन्हें लगा कि यह राज्य का कर्तव्य है कि वे जनजातियों को संरक्षण दें ताकि वे अपनी जीवन-पद्धति तथा संस्कृति को बनाए रख सकें क्योंकि उन पर लगातार यह दबाव बन रहा था कि वे हिंदू संस्कृति की मुख्यधारा में अपना समायोजन करें (अपने आपको मुख्यधारा में मिला लें)।

हालाँकि, राष्ट्रवादी भारतीय भी भारत की एकता तथा भारतीय समाज तथा संस्कृति को आधुनिक बनाने की आवश्यकता को लेकर उतने ही उत्तेजित थे। उनका यह मानना था कि जनजातीय संस्कृति के संरक्षण के प्रयास दिशाहीन थे और

आदिम संस्कृति को बचाने का कार्य वास्तव में गुमराह करने की कोशिश थी। इसके परिणामस्वरूप जनजातियों के पिछड़ेपन को आदिम संस्कृति के 'संग्रहालय' के रूप में ही बनाए रखा गया था। हिंदुत्व की कई विशेषताओं को वे स्वयं पिछड़ा हुआ मानते थे और जिनमें सुधार की आवश्यकता थी; उन्हें लगा कि जनजातियों को भी विकास की आवश्यकता थी। घूर्ये राष्ट्रवादी विचारधारा के प्रबल समर्थक थे तथा उन्होंने इस बात पर बल दिया कि भारतीय जनजातियों को 'पिछड़े हिंदू समूह' के रूप में पहचाना जाए न कि एक भिन्न सांस्कृतिक समूह के रूप में। इस कार्य के लिए उन्होंने विस्तार से जनजातीय संस्कृति के कई साक्ष्य प्रस्तुत किए, यह प्रमाणित करने के लिए कि वे काफ़ी लंबे समय से हिंदुत्व से आपसी अंत:क्रिया द्वारा जुड़े रहे हैं। जिस समायोजन प्रक्रिया से सभी भारतीय जातियों को गुज़रना पड़ा, उसी प्रक्रिया में जनजातीय वर्ग साधारणतः अन्य भारतीय समुदाय से पीछे रह गए थे। एक मुख्य विवाद–कि भारतीय जनजाति एक ऐसी आदिम जाति थी जो शायद ही कभी अलग–थलग रही हो, जिसका वर्णन शास्त्रीय मानवविज्ञान की पुस्तकों में हुआ है–विवादास्पद नहीं रहा। इस तथ्य पर मतभेद था कि मुख्यधारा की संस्कृति का उस पर क्या प्रभाव पड़ा और इसकी जाँच की गई। 'संरक्षणवादियों' का यह विश्वास था कि समायोजन का परिणाम जनजातियों के शोषण तथा उनकी संस्कृति की विलुप्तता के रूप में सामने आएगा। दूसरी तरफ़ घूर्ये तथा राष्ट्रवादियों ने यह तर्क दिया कि ये दुष्परिणाम मात्र जनजातीय संस्कृति तक ही सीमित न होकर भारतीय समाज के सभी पिछड़े तथा दलित वर्गों में समान रूप में देखे जा सकते हैं। विकास के मार्ग में आने वाली ये वे आवश्यक कठिनाइयाँ हैं जिनसे बचा नहीं जा सकता।

क्रियाकलाप 1

आज भी हम उसी प्रकार के विवादों में पड़े हैं। किसी भी प्रश्न के विभिन्न पक्षों की उनके समकालीन परिप्रेक्ष्यों को ध्यान में रखकर समीक्षा कीजिए, उदाहरण के लिए, अधिकतर जनजातीय आंदोलन अपनी विशिष्ट सांस्कृतिक तथा राजनीतिक पहचान पर बल देते हैं। वास्तव में झारखंड तथा छत्तीसगढ़ राज्यों का निर्माण इसी प्रकार के आंदोलनों का फल है। विकास के नाम पर बड़े-बड़े बाँधों, खदानों तथा फैक्ट्रियों के निर्माण के कारण जनजातीय वर्गों पर एक असमान दबाव पड़ता है, जिस पर काफ़ी मतभेद है। ऐसे और कितने संघर्षों के बारे में आप जानते हैं? पता लगाइए कि इन संघर्षों के पीछे कौन से मुद्दे थे। आप और आपके सहपाठी इन समस्याओं के बारे में क्या सोचते हैं?

जाति तथा प्रजाति पर घूर्ये के विचार

घूर्ये की शैक्षिक साख उनके द्वारा केम्ब्रिज में किए गए डॉक्ट्रेट के शोध निबंध के आधार पर बनी जो आगे चल कर 1932 में *कास्ट एंड रेस इन इंडिया* के नाम से प्रकाशित हुआ। घूर्ये के कार्य ने लोगों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया क्योंकि इन्होंने समकालीन भारतीय मानवविज्ञान के मुद्दों को संबोधित किया था। इस

पुस्तक में घूर्ये ने जाति तथा प्रजाति के संबंधों पर प्रचलित सिद्धांतों की विस्तारपूर्वक आलोचना की। इस सर्वप्रचलित विचार के प्रमुख उद्घोषक हरबर्ट रिजले थे, जो ब्रिटिश औपनिवेशिक अधिकारी थे और मानवविज्ञान के मामलों में बेहद रुचि रखते थे। इस विचारधारा के अनुसार मनुष्य का विभाजन उसकी शारीरिक विशिष्टताओं को ध्यान में रखते हुए जैसे–खोपड़ी की चौड़ाई, नाक की लंबाई, अथवा कपाल का भार या खोपड़ी का वह हिस्सा जहाँ दिमाग की स्थिति होती है–अलग तथा भिन्न प्रजातियों में बाँटा गया है।

रिजले तथा अन्य लोगों की यह मान्यता थी कि भारत विभिन्न प्रजातियों के उद्विकास के अध्ययन की एक विशिष्ट 'प्रयोगशाला' था क्योंकि जाति एक लंबे समय से विभिन्न समूहों के बीच एक लंबे समय से अंतर्विवाह निषिद्ध करती है। रिजले का मुख्य तर्क था कि जाति का उद्भव प्रजाति से हुआ होगा क्योंकि विभिन्न जाति समूह किसी विशिष्ट प्रजाति से संबंधित लगते हैं। सामान्य रूप से उच्च जातियाँ तकरीबन भारतीय–आर्य प्रजाति की विशिष्टताओं से मिलती हैं, जबकि निम्न जातियों में अनार्य जनजातियों, मंगोल अथवा अन्य प्रजातियों के गुण देखने को मिलते हैं। विभिन्न वर्गों की भिन्नताओं के औसतन आधार पर जैसे नाक की लंबाई, कपाल का आकार आदि, रिजले तथा अन्य लोगों ने यह सुझाव दिया कि निम्न जातियाँ ही भारत की वास्तविक आदि निवासी हैं। उन्हें आर्यों द्वारा दबाया गया जो कहीं बाहर से आकर भारत में बस गए थे।

रिजले द्वारा दिए गए तर्कों से घूर्ये असहमत नहीं थे लेकिन वे उसे केवल अंशत: सत्य मानते थे। उन्होंने उन समस्याओं की ओर ध्यान दिलाया जो केवल औसत के आधार पर, बिना परिवर्तनों को ध्यान में रखे किसी भी समुदाय पर विशिष्ट मापदंड लागू कर दिए जाने से होती हैं। घूर्ये का यह विश्वास था कि रिजले के शोध प्रबंध में उच्च जातियों को आर्य तथा निम्न जातियों को अनार्य बताया गया है, यह व्यापक रूप से केवल उत्तरी भारत के लिए ही सही है। भारत के अन्य भागों में, अंतरसमूहों की भिन्नताएँ मानवमिति माप बहुत व्यापक अथवा व्यवस्थित नहीं है। इसका यह अर्थ हुआ कि अधिकांश भारत में, सिंधु–गंगा के मैदान छोड़कर, विभिन्न प्रजातीय वर्गों का आपस में काफ़ी लंबे समय से मेल–मिलाप था। अत: 'प्रजातीय शुद्धता' केवल उत्तर भारत में ही बची हुई थी क्योंकि वहाँ अंतर्विवाह निषिद्ध था। शेष भारत में अन्त:विवाह (जाति विशेष में ही विवाह करना) का प्रचलन उन वर्गों में हुआ जो प्रजातीय स्तर पर वैसे ही भिन्न थे।

आज जाति के इस प्रजातीय सिद्धांत को नहीं माना जाता, परंतु बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में इसे सच माना जाता था। इतिहासकारों में आर्यों तथा भारतीय उपमहाद्वीप में उनके आगमन को लेकर मतभेद है। हालाँकि, जिस समय घूर्ये इस विषय पर लिख रहे थे, उस समय इस विषय के ये मुद्दे महत्त्वपूर्ण थे, इसी कारण से इनके लेखों ने लोगों का ध्यान आकर्षित किया।

घूर्ये जाति की एक विस्तृत परिभाषा दिए जाने के कारण भी जाने जाते हैं। उनकी परिभाषा छह महत्त्वपूर्ण विशेषताओं पर बल देती है।

1. जाति एक ऐसी संस्था है जो *खंडीय विभाजन* पर आधारित है। इसका अर्थ है कि जातीय

समाज कई बंद, पारस्परिक अनन्य खंडों में बँटा है। प्रत्येक जाति ऐसा ही एक खंड है। यह बंद है क्योंकि जाति का निर्धारण जन्म से होता है। एक विशिष्ट जाति के बच्चे हमेशा उसी जाति के होंगे। दूसरे शब्दों में, जाति की सदस्यता केवल जन्म के आधार पर मिलती है। संक्षेप में, किसी भी व्यक्ति की जाति का निर्धारण जन्म से, जन्म के समय होता है। इससे न तो बचा जा सकता है और न ही बदला जा सकता है।

2. जातिगत समाज *सोपानिक विभाजन* पर आधारित होते हैं। प्रत्येक जाति दूसरी जाति की तुलना में असमान होती है अर्थात प्रत्येक जाति दूसरी से उच्च अथवा निम्न होती है। सैद्धांतिक रूप से (प्रचलन में नहीं) कोई भी दो जातियाँ समान नहीं होतीं।
3. संस्था के रूप में जाति *सामाजिक अंत:क्रिया पर प्रतिबंध* लगाती है विशेषकर साथ बैठकर भोजन करने पर। किस प्रकार के खाद्य पदार्थ को विभिन्न जातियों के बीच बाँटा जा सकता है; इसके विस्तृत नियम हैं। ये नियम पवित्रता तथा अपवित्रता के विचार से संचालित होते हैं। यही तथ्य सामाजिक अंत:क्रिया पर भी लागू होते हैं; यह विशेष नाटकीय रूप से अस्पृश्यता के क्षेत्र में दिखाई देता है, जहाँ किसी जाति विशेष के व्यक्ति द्वारा छू जाने मात्र से इनसान अपवित्र हो जाता है।
4. सोपानिक तथा प्रतिबंधित सामाजिक अंत:क्रिया के सिद्धांतों को मानते हुए जाति में विभिन्न जातियों के लिए *भिन्न-भिन्न अधिकार तथा कर्तव्य* निर्धारित होते हैं। उनके अधिकार तथा कर्तव्य केवल धार्मिक क्रियाओं तक ही सीमित न रहकर धर्मनिरपेक्ष विश्व तक फैले हुए हैं। जैसा कि नृजातीय वर्णन जातिगत समाज की दिनचर्या को दिखाता है, विभिन्न जातियों के मध्य होने वाली अंत:क्रिया इन्हीं नियमों से चालित होती है।
5. जाति *व्यवसाय के चुनाव* को भी सीमित कर देती है जो जाति की तरह, जन्म पर आधारित तथा वंशानुगत होता है। समाज के स्तर पर, जातिगत श्रम विभाजन में कठोरता देखी जाती है तथा विशिष्ट व्यवसाय कुछ विशिष्ट जातियों को ही दिए जाते हैं।
6. जाति, विवाह पर कठोर प्रतिबंध लगाती है। जाति में अंत:विवाह (जाति में ही विवाह), के साथ ही 'बहिर्विवाह' के नियम भी जुड़े रहते हैं, अथवा किसकी शादी किससे नहीं हो सकती है। इस प्रकार की योग्यता और निर्योग्यता के समूहों के नियम जाति प्रथा को आगे बढ़ाने में मदद करते हैं।

घूर्ये की परिभाषा जाति के व्यवस्थित अध्ययन में सहायक है। उनकी परिभाषा अवधारणात्मक थी जो शास्त्रीय पुस्तकों पर आधारित थी। वास्तविक रूप से, जाति के बहुत से रूपों में परिवर्तन हो रहा था हालाँकि वे सब किसी न किसी रूप में अस्तित्व में हैं। आगे आने वाले कई दशकों में नृजातीय क्षेत्र के अध्ययनों ने इस विषय पर महत्त्वपूर्ण जानकारियाँ एकत्रित करने में मदद की है कि स्वतंत्र भारत में इस क्षेत्र में (जाति) क्या कुछ हो रहा है।

1920 तथा 1950 ई. के मध्य भारत में समाजशास्त्र के दो प्रमुख विभाग मुंबई तथा

लखनऊ में खुले। दोनों का प्रारंभ समाजशास्त्र तथा अर्थशास्त्र के मिले-जुले विभाग के रूप में हुआ। जहाँ मुंबई विभाग इस समय जी.एस. घूर्ये द्वारा संचालित हो रहा था वहीं दूसरी ओर लखनऊ विभाग प्रसिद्ध 'त्रिदेव' राधाकमल मुकर्जी (संस्थापक), डी.पी. मुकर्जी तथा डी.एन. मजूमदार द्वारा चलाया जा रहा था। वैसे तीनों ही जाने-माने थे तथा अपने कार्यों के लिए पहचाने जाते थे परंतु डी.पी. मुकर्जी इनमें सर्वाधिक लोकप्रिय थे। वास्तव में डी.पी. मुकर्जी, ज़्यादातर डी.पी. के नाम से ही जाने जाते थे जो न केवल समाजशास्त्र में बल्कि शिक्षण के अलावा बौद्धिक तथा जनजीवन में भी अपने समय के सर्वाधिक प्रभावशाली विद्वान रहे हैं। इनका प्रभाव तथा सार्वजनिक लोकप्रियता इनके विद्वतापूर्ण लेखन से उतनी नहीं मिली जितनी शिक्षण, शैक्षणिक घटनाओं पर उनके भाषण, मीडिया में उनके द्वारा किए गए कार्य जिसके अंतर्गत समाचार पत्रों के लेख तथा रेडियो प्रोग्राम, से मिली। डी.पी. ने समाजशास्त्र से पहले इतिहास तथा अर्थशास्त्र का अध्ययन किया था तथा इन विविध विषयों में उनकी अभिरुचि थी, जिसका विस्तार क्षेत्र साहित्य, संगीत, फ़िल्म, पाश्चात्य तथा भारतीय दर्शन, मार्क्सवाद, राजनीतिक अर्थव्यवस्था, तथा विकास की योजना थी। मार्क्सवाद से वे बेहद प्रभावित थे, हालाँकि इसके राजनीतिक कार्यक्रम की अपेक्षा इसके सामाजिक विश्लेषण के तरीकों

धूर्जटि प्रसाद मुकर्जी (1894-1961)

5 अक्तूबर 1894 को एक मध्यमवर्गीय बंगाली ब्राह्मण परिवार में जन्म, जहाँ कि उच्च शिक्षा की लंबी परंपरा थी। विज्ञान में स्नातक; कलकत्ता विश्वविद्यालय से इतिहास तथा अर्थशास्त्र में स्नातकोत्तर की उपाधि प्राप्त की।

1924 : लखनऊ विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्र तथा समाजशास्त्र विभाग में लेक्चरर के पद पर नियुक्ति।

1938-41 : ब्रिटिश भारत के यूनाइटेड प्रोविंस की कांग्रेस गठित सरकार में (वर्तमान उत्तर प्रदेश) सूचना मंत्रालय में निदेशक के पद पर नियुक्ति

1947 : यू.पी. लेबर एंक्वायरी कमेटी के सदस्य के रूप में कार्य किया।

1949 : लखनऊ विश्वविद्यालय में प्रोफ़ेसर के पद पर नियुक्ति; (उप-कुलपति के विशेष आदेश पर)

1953 : अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र के प्रोफ़ेसर के पद पर नियुक्ति।

1955 : नवनिर्मित इंडियन सोशयोलॉजिकल सोसायटी में अध्यक्षीय भाषण।

1956 : स्विट्ज़रलैंड में गले के कैंसर की सर्जरी, 5 दिसंबर 1961 को निधन।

में उनका विश्वास अधिक था। डी.पी. ने अंग्रेज़ी तथा बंगाली में काफ़ी पुस्तकें लिखीं। उनके द्वारा लिखित *इंट्रोडक्शन टू इंडियन म्यूज़िक* इस विषय में एक श्रेष्ठ कार्य है जो इस वर्ग की कालजयी रचना मानी जाती है।

परंपरा एवं परिवर्तन पर डी.पी. मुकर्जी के विचार

डी.पी. मुकर्जी भारतीय इतिहास तथा अर्थव्यवस्था के प्रति अपने असंतोष के कारण समाजशास्त्र की ओर मुड़े। उनका यह मानना था कि भारत की सामाजिक व्यवस्था ही उसका निर्णायक एवं विशिष्ट लक्षण है और इसलिए, यह प्रत्येक सामाजिक विज्ञान के लिए आवश्यक है कि वह इस संदर्भ में इससे जुड़ा हो। भारतीय संदर्भ में निर्णायक पक्ष उसका सामाजिक पक्ष है– इतिहास, राजनीति तथा अर्थशास्त्र पश्चिम के मुकाबले भारत में कम विकसित थे; उसका सामाजिक आयाम अधिकाधिक विकसित था। डी.पी. लिखते हैं–"मेरा यह मानना है कि भारत में सामाजिकता का बाहुल्य है, इसके अलावा और सब कुछ बहुत कम है। वास्तव में सामाजिकता की अधिकता भारत की विशेषता ही है। भारत का इतिहास, इसका अर्थशास्त्र, यहाँ तक कि इसका दर्शन सामाजिक समूहों के इर्द–गिर्द घूमता है, ज़्यादा से ज़्यादा यह भी कह सकते हैं कि यह समाजीकृत व्यक्तियों के इर्द–गिर्द है, ऐसा मैं महसूस करता हूँ।" (मुकर्जी 1955:2)

भारत में समाज की केंद्रीय स्थिति को देखते हुए, भारतीय समाजशास्त्री का यह प्रथम कर्तव्य था कि वह सामाजिक परंपराओं के बारे में पढ़े तथा जाने। डी.पी. के लिए परंपरा का अध्ययन केवल भूतकाल तक ही सीमित नहीं था बल्कि वह परिवर्तन की संवेदनशीलता से भी जुड़ा था। अत: परंपरा एक जीवंत परंपरा थी, जिसने अपने आपको भूतकाल से जोड़ने के साथ ही साथ वर्तमान के अनुरूप भी ढाला था और इस प्रकार समय के साथ अपने आपको विकसित कर रही थी। जैसा कि उन्होंने लिखा, "....सिर्फ़ भारतीय समाजशास्त्री के लिए एक समाजशास्त्री होना काफ़ी नहीं होता है। बल्कि उसकी प्रथम आवश्यकता एक भारतीय होना है क्योंकि वह लोकरीतियों, रूढ़ियों, प्रथाओं तथा परंपराओं से जुड़कर ही अपनी सामाजिक व्यवस्था के अंदर तथा उसके आगे क्या है, को समझ पाएगा। इस विचार को ध्यान में रखते हुए, उनका मानना था कि समाजशास्त्रियों को भाषा को सीखना तथा भाषा की उच्चता-निम्नता और संस्कृति की पहचान हो–न केवल संस्कृत, फ़ारसी अथवा अरबी भाषाएँ बल्कि स्थानीय बोलियों की भी जानकारी हो।"

डी.पी. ने यह तर्क दिया कि भारतीय संस्कृति तथा समाज पाश्चात्य अर्थ में व्यक्तिवादी नहीं हैं। एक औसत भारतीय की आकांक्षाओं का रूप, कम या अधिक, उसके सामाजिक–सांस्कृतिक वर्ग द्वारा तय किया जाता है और वह शायद ही उससे विचलित होता है। अत: भारतीय सामाजिक व्यवस्था की दिशा मुख्यत: समूह, संप्रदाय तथा जाति के क्रियाकलापों द्वारा निर्धारित होती है न कि 'स्वैच्छिक' व्यक्तिगत कार्यों द्वारा। हालाँकि 'स्वैच्छिकता' ने शहरी मध्यम वर्ग को प्रभावित करना शुरू कर दिया था, लेकिन इसके आने से भारतीय समाज को अध्ययन के लिए एक रोचक

विषय मिल गया था। परंपरा शब्द का मूल अर्थ संचारित/प्रेषित करना है—डी.पी. ने इस ओर ध्यान आकर्षित किया। इसका समतुल्य संस्कृत शब्द परंपरा है, जोकि, उत्तराधिकार; अथवा आतिथ्य है, जिसका मूल आधार वही है जो इतिहास का है। अत: परंपरा की मज़बूत जड़ें भूतकाल में होती हैं और उन्हें कहानियों तथा मिथकों द्वारा कहकर और सुनकर जीवित रखा जाता है। हालाँकि परिवर्तन भी भूतकाल से उसके संबंध को नहीं तोड़ पाया। बल्कि यह अनुकूलन की प्रक्रिया को इंगित करता है। प्रत्येक समाज में परिवर्तन के आंतरिक तथा बाह्य स्रोत हमेशा मौजूद रहते हैं। पाश्चात्य समाज में आंतरिक परिवर्तन का अत्यधिक सामान्य स्रोत अर्थव्यवस्था है परंतु यह भारत में उतना प्रभावशाली नहीं है। जैसा कि डी.पी. मानते थे कि भारतीय संदर्भ में वर्ग संघर्ष जातीय परंपराओं से प्रभावित होता है और उसे अपने में सम्मिलित कर लेता है। भारत में नवीन वर्ग संघर्ष अभी स्पष्ट रूप में उभर कर नहीं आया है। इस समझ के आधार पर, उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि गत्यात्मक भारतीय समाजशास्त्र का सर्वप्रथम कार्य परिवर्तन के आंतरिक गैर आर्थिक कारणों को देखना होगा।

डी.पी. की यह मान्यता थी कि भारतीय परंपरा में परिवर्तन के तीन सिद्धांतों को मान्यता दी गई है—श्रुति, स्मृति तथा अनुभव। इन सब में आखिरी—अनुभव अथवा व्यक्तिगत अनुभव—क्रांतिकारी सिद्धांत है। इसका अर्थ यह हुआ कि भारतीय समाज में परिवर्तन का सर्वप्रमुख सिद्धांत सामान्यीकृत अनुभव अथवा समूहों का सामूहिक अनुभव था। उच्च परंपराएँ स्मृति तथा श्रुति में केंद्रित थीं परंतु समय-समय पर उन्हें समूहों तथा संप्रदायों के सामूहिक अनुभवों द्वारा चुनौती दी जाती रही है, उदाहरणत: भक्ति आंदोलन। डी.पी. ने बल देकर कहा कि यह केवल हिंदुओं के लिए ही सही नहीं है बल्कि भारत की इस्लामी संस्कृति के लिए भी सही है। भारतीय इस्लाम में, सूफियों ने पवित्र ग्रंथों की अपेक्षा प्रेम तथा अनुभव पर अधिक बल दिया है; जिसने परिवर्तन लाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। अत: डी.पी. के लिए भारतीय संदर्भ में बुद्धि-विचार, परिवर्तन के लिए प्रभावशाली शक्ति नहीं है; बल्कि ऐतिहासिक रूप से अनुभव और प्रेम परिवर्तन के उत्कृष्ट कारक हैं।

भारतीय संदर्भ में संघर्ष तथा विद्रोह सामूहिक अनुभवों के आधार पर कार्य करते हैं। परंतु परंपरा का लचीलापन इसका ध्यान रखता है कि संघर्ष का दबाव परंपराओं को बिना तोड़े उनमें परिवर्तन लाए। अत: हम देखते हैं कि किस प्रकार प्रभावी रूढ़िवाद को लोकप्रिय विद्रोहों द्वारा चुनौती दी जाती है जो आगे चलकर रूढ़िवाद को परिवर्तित करने में सफल तो हो जाती हैं परंतु ये परिवर्तन आखिरकार परंपरा में अवशोषित कर लिए जाते हैं। यह चक्र लगातार अपने आप को दोहराता रहता है। परिवर्तन की यह प्रक्रिया—जहाँ संघर्ष परंपरा की सीमाओं में रहता है—ठेठ जातिगत समाज का लक्षण है, जहाँ वर्गों के बनने तथा वर्ग-चेतना को अवरोधित कर दिया गया है। डी.पी. के परंपरा और परिवर्तन संबंधी विचारों ने पाश्चात्य देशों से बिना सोचे-समझे बौद्धिक परंपराओं को ग्रहण करने के कारण विकास योजनाओं

जैसे संदर्भों की भी आलोचना की। परंपरा को न तो पूजना चाहिए और न ही इसको अनदेखा करना चाहिए, ठीक उसी प्रकार जैसे आधुनिकता आवश्यक तो है लेकिन अंधानुकरण के लिए नहीं। डी.पी. परंपरा के समीक्षक थे जो उन्हें विरासत में मिली थी और साथ ही वे आधुनिकता के प्रशंसक आलोचक भी थे जिसके कारण उनके स्वयं के बौद्धिक परिप्रेक्ष्य को आकार प्राप्त हुआ।

ए. आर. देसाई ऐसे विरले भारतीय समाजशास्त्री हैं जो सीधे तौर पर राजनीतिक पार्टियों से औपचारिक सदस्य के रूप में राजनीति से जुड़े थे। देसाई आजीवन मार्क्सवादी रहे तथा मार्क्सवादी राजनीति में उनकी सक्रियता बड़ौदा में स्नातक की पढ़ाई करते हुए हुई, हालाँकि बाद में उन्होंने भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की सदस्यता से इस्तीफा दे दिया। अपने व्यवसाय के अधिकांश भाग में वे गैर–मुख्यधारा के मार्क्सवादी राजनीतिक समूहों से जुड़े थे। देसाई के पिता बड़ौदा राज्य में माध्यमिक स्तर के प्रशासनिक अधिकारी थे, लेकिन साथ ही वे एक जाने–माने उपन्यासकार भी थे तथा उनके मन में भारतीय राष्ट्रवाद (गांधीवाद) तथा समाजवाद–दोनों के लिए हमदर्दी थी। देसाई की माता का देहांत उनके जीवन के प्रारंभिक काल में हो गया था तथा उनकी देखभाल उनके पिता ने की। पिता के बड़ौदा के विभिन्न स्थानों में लगातार होने वाले स्थानांतरण के कारण देसाई ने प्रवासीय जीवन जिया।

क्रियाकलाप 2

'जीवंत परंपरा' से क्या तात्पर्य है–विचार कीजिए। डी.पी. मुकर्जी के अनुसार यह एक परंपरा है जो भूतकाल से कुछ ग्रहण कर उससे अपने संबंध बनाए रखती है और साथ ही नयी चीज़ों को भी ग्रहण करती है। अतः एक जीवंत परंपरा पुराने तथा नए तत्त्वों का मिश्रण है। आप इसे और बेहतर तरीके से समझ सकते हैं जब आप विभिन्न पीढ़ी के लोगों से, चाहे वे आपके पड़ोसी हैं या परिवार के सदस्य, यह जानने की कोशिश करेंगे कि कुछ विशिष्ट क्षेत्रों में वे कौन सी चीज़ें हैं जो परिवर्तित हो चुकी हैं या फिर वे जो आज भी परिवर्तित नहीं हुई हैं। यहाँ इस विषय से संबंधित एक सूची दी जा रही है जिस पर आप काम कर सकते हैं; आप अपने मनपसंद विषय को भी चुन सकते हैं। जैसे–

–आपके उम्र के बच्चों द्वारा खेला जाने वाला खेल। (लड़का/लड़की)
–किसी लोकप्रिय त्योहार को मनाने के तरीके।
–पुरुषों और स्त्रियों द्वारा पहना जाने वाला पहनावा।
...इसके अतिरिक्त आपकी रुचि के अन्य विषय...

इनके लिए ज़रूरी है कि आप ढूँढ़ें–जहाँ तक आपकी सोच जाती है ऐसे कौन से पहलू हैं जिनमें परिवर्तन नहीं आया है? किन पहलुओं में परिवर्तन हो गया है? इस व्यवहार में समानता और असमानता क्या है (क) 10 वर्ष पश्चात, (ख) 20 वर्ष पश्चात, (ग) 40 वर्ष पश्चात, (घ) 60 या अधिक वर्ष पश्चात। अपने निष्कर्षों की चर्चा कक्षा में कीजिए।

अक्षय रमनलाल देसाई (1915-1994)

1915 में जन्म, प्रारंभिक शिक्षा बड़ौदा में, फिर सूरत तथा मुंबई में।

1934–39	:	भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य; ट्रोटस्की ग्रुप से संबद्ध।
1946	:	जी. एस. घूर्ये के निर्देशन में बंबई विश्वविद्यालय से पीएच.डी.।
1948	:	देसाई की पीएच.डी. शोध पुस्तक के रूप में प्रकाशित–*सोशल बैकग्राउंड ऑफ़ इंडियन नेशनलिज़्म।*
1951	:	बंबई विश्वविद्यालय के समाजशास्त्र विभाग में नियुक्ति।
1953–1981	:	रिवोल्यूशनरी सोशलिस्ट पार्टी के सदस्य।
1961	:	*रूरल ट्रांज़ीशन इन इंडिया* नामक पुस्तक प्रकाशित।
1967	:	प्रोफ़ेसर तथा विभागाध्यक्ष के रूप में नियुक्ति।
1975	:	*स्टेट एंड सोसायटी इन इंडिया : एसेज़ इन डीसेंट* प्रकाशित।
1976	:	समाजशास्त्र विभाग से सेवानिवृत्त।
1979	:	*पेज़ेंट स्ट्रगल इन इंडिया* प्रकाशित।
1986	:	*एग्रेरियन स्ट्रगल्स इन इंडिया आफ्टर इंडिपेंडेंस* प्रकाशित। निधन–12 नवंबर 1994

बड़ौदा में अपनी स्नातक की पढ़ाई पूरी करने के बाद देसाई ने बंबई विश्वविद्यालय के समाजशास्त्र विभाग में प्रवेश लिया जहाँ घूर्ये उनके गुरु थे। उन्होंने भारतीय राष्ट्रवाद के सामाजिक पहलुओं पर अपने डॉक्ट्रेट का शोधग्रंथ लिखा जिस पर 1946 में उन्हें डिग्री प्रदान की गई। 1948 में उनकी थीसिस द *सोशल बैकग्राउंड ऑफ़ इंडियन नेशनलिज़्म* प्रकाशित हुई जो उनके द्वारा किए गए कार्यों में सबसे बेहतरीन है। इस पुस्तक में देसाई ने भारतीय राष्ट्रवाद का मार्क्सवादी विश्लेषण किया, जिसमें आर्थिक प्रक्रियाओं एवं विभाजनों को महत्त्व दिया गया है, यह ध्यान में रखते हुए कि ब्रिटिश उपनिवेशवाद के समय हालात कैसे थे। हालाँकि इसकी आलोचना हुई पर फिर भी यह पुस्तक बेहद प्रसिद्ध हुई और इसका कई बार पुनर्मुद्रण भी हुआ। अन्य विषय जिन पर देसाई ने काम किया वे हैं–किसान आंदोलन तथा ग्रामीण समाजशास्त्र; आधुनिकीकरण, नगरीय मुद्दे, राजनीतिक समाजशास्त्र, राज्य के स्वरूप और मानवाधिकार। चूँकि मार्क्सवाद भारतीय समाजशास्त्र में बहुत प्रभावशाली या महत्त्वपूर्ण नहीं था अतः ए.आर. देसाई को अपने विषय की तुलना में बाहर ज़्यादा नाम मिला। हालाँकि

© NCERT not to be republished

देसाई को कई पदवियों से सम्मानित किया गया तथा वे 'इंडियन सोशयोलॉजिकल सोसायटी' के अध्यक्ष भी रहे, भारतीय समाजशास्त्र में देसाई एक अत्यंत प्रभावी व्यक्तित्व रहे।

राज्य पर ए.आर. देसाई के विचार

आधुनिक पूँजीवादी राज्य एक महत्त्वपूर्ण विषय था, जिसमें ए.आर. देसाई की रुचि थी। हमेशा की तरह, इस विषय को समझने में भी उन्होंने मार्क्सवादी दृष्टिकोण अपनाया। 'द मिथ ऑफ़ द वेलफेयर स्टेट' नामक निबंध में देसाई ने विस्तारपूर्वक इसकी विवेचनात्मक समीक्षा की है तथा इसकी कमियों की ओर ध्यान आकर्षित किया है। समाजशास्त्रीय साहित्य की प्रमुख परिभाषाओं को ध्यान में रखते हुए, देसाई ने कल्याणकारी राज्य की निम्नलिखित विशेषताएँ बताई हैं–

1. कल्याणकारी राज्य एक सकारात्मक राज्य होता है। इसका अर्थ है कि वह उदारवादी राजनीति के शास्त्रीय सिद्धांत की लेसेज़ फेयर (Lassiez faire) नीति से भिन्न होता है। कल्याणकारी राज्य केवल न्यूनतम कार्य ही नहीं करता जो कानून तथा व्यवस्था को बनाए रखने के लिए आवश्यक होते हैं। बल्कि कल्याणकारी राज्य हस्तक्षेपीय राज्य होता है और समाज की बेहतरी के लिए सामाजिक नीतियों को तैयार तथा लागू करने के लिए अपनी शक्तियों का प्रयोग सक्रिय रूप से करता है।
2. कल्याणकारी राज्य लोकतांत्रिक राज्य होता है। कल्याणकारी राज्य के जन्म के लिए लोकतंत्र की एक अनिवार्य दशा होती है। औपचारिक लोकतांत्रिक संस्थाओं, विशेषकर बहुपार्टी चुनाव, कल्याणकारी राज्य की पारिभाषिक विशेषता समझी जाती है। यही कारण है कि उदारवादी चिंतकों ने समाजवादी तथा कम्युनिस्ट राज्यों को इस परिभाषा से बाहर रखा है।
3. कल्याणकारी राज्य की अर्थव्यवस्था मिश्रित होती है। 'मिश्रित अर्थव्यवस्था' का अर्थ है ऐसी अर्थव्यवस्था जहाँ निजी पूँजीवादी कंपनियाँ तथा राज्य अथवा सामूहिक कंपनियाँ–दोनों साथ साथ कार्य करती हों। एक कल्याणकारी राज्य न तो पूँजीवादी बाज़ार को ही खत्म करना चाहता है और न ही यह उद्योगों तथा दूसरे क्षेत्रों में जनता को निवेश करने से रोकता है। कमोबेश कल्याणकारी राज्य ज़रूरत की वस्तुओं और सामाजिक अधिसंरचना पर ध्यान देता है जबकि उपभोक्ता वस्तुओं पर निजी उद्योगों का वर्चस्व होता है।

देसाई कुछ ऐसे तरीके बताते हैं जिसके आधार पर कल्याणकारी राज्य द्वारा किए गए कार्यों का परीक्षण किया जा सके। ये हैं–

1. क्या कल्याणकारी राज्य गरीबी, सामाजिक भेदभाव से मुक्ति तथा अपने सभी नागरिकों की सुरक्षा का ध्यान रखता है?
2. क्या कल्याणकारी राज्य आय संबंधित असमानताओं को दूर करने के लिए कुछ महत्त्वपूर्ण कदम उठाता है; जैसे–धन के जमाव को रोककर अथवा अमीरों की आय के कुछ भाग को गरीबों में पुनः बाँटना आदि?

© NCERT not to be republished

3. क्या कल्याणकारी राज्य अर्थव्यवस्था को इस प्रकार से परिवर्तित करता है, जहाँ पूँजीवादियों की अधिक से अधिक लाभ कमाने की प्रवृत्ति पर, समाज की ज़रूरतों को ध्यान में रखते हुए रोक लगाई जा सकती हो?
4. क्या कल्याणकारी राज्य स्थायी विकास के लिए आर्थिक मंदी तथा तेज़ी से मुक्त व्यवस्था का ध्यान रखता है?
5. क्या यह सबके लिए रोजगार उपलब्ध कराता है?

इस आधार को ध्यान में रखते हुए देसाई उन देशों के कार्यों का परीक्षण करते हैं जिनको अकसर कल्याणकारी राज्य कहा जाता है; जैसे–ब्रिटेन, अमेरिका तथा यूरोप के अधिकांश भाग और हम यह पाते हैं कि उनके द्वारा काफ़ी बढ़ा–चढ़ा कर दावे किए गए थे। अत: अधिकांश आधुनिक पूँजीवादी राज्य, यहाँ तक कि विकसित देश भी, अपने नागरिकों को निम्नतम आर्थिक तथा सामाजिक सुरक्षा देने में असफल रहे हैं। वे आर्थिक असमानताओं को कम करने में सफल नहीं हो पाए हैं और अधिकांशत: उसे प्रोत्साहित ही करते हैं। तथाकथित कल्याणकारी राज्य बाज़ार के उतार–चढ़ाव से मुक्त स्थायी विकास करने में भी असफल रहे हैं। अतिरिक्त धन की उपस्थिति तथा अत्यधिक बेरोज़गारी इसकी कुछ अन्य असफलताएँ हैं। अपने इन तर्कों के आधार पर देसाई ने यह निष्कर्ष निकाला कि कल्याणकारी राज्य की सोच एक भ्रम है।

ए.आर. देसाई ने राज्य के मार्क्सवादी सिद्धांत पर भी लेखन कार्य किया। उनके इन लेखों में हम देख सकते हैं कि देसाई एकांगी दृष्टिकोण को लेकर नहीं चलते हैं बल्कि कम्युनिस्ट राज्यों की कमियों की आलोचना भी करते हैं। उन्होंने कई मार्क्सवादी चिंतकों के उदाहरणों द्वारा इस तथ्य पर बल दिया है कि कम्युनिज़्म के तहत भी लोकतंत्र का महत्त्व होता है तथा राजनीतिक उदारता एवं कानून का राज प्रत्येक वास्तविक समाजवादी राज्य में बने रहना चाहिए।

क्रियाकलाप 3

ए.आर. देसाई कल्याणकारी राज्य की आलोचना मार्क्सवादी तथा सोशलिस्ट दृष्टिकोण से करते हैं। वे चाहते हैं कि पाश्चात्य पूँजीवादी कल्याणकारी राज्यों ने जो किया है, राज्य अपने नागरिकों के लिए उससे अधिक करे। आज इसके विपरीत ये तर्क दिए जा रहे हैं कि राज्य अपनी भूमिकाओं को निरंतर कम करे और इन भूमिकाओं और दायित्व के निर्वाह का बड़ा भाग स्वतंत्र बाज़ार के हवाले कर देना चाहिए। कक्षा में इन दृष्टिकोणों पर चर्चा कीजिए और दोनों पक्षों को ध्यानपूर्वक सुनिए।

अपने आस–पड़ोस में राज्य तथा सरकार द्वारा किए गए कार्यों की सूची बनाइए; शुरुआत अपने विद्यालय से कीजिए। लोगों से पता करने के लिए पूछिए कि आज के संदर्भ में क्या यह सूची बढ़ी है या छोटी हुई है–क्या राज्य पहले की अपेक्षा आज अधिक कार्य कर रहा है या कम? आपको क्या लगता है–यदि राज्य इन कार्यों को करना बंद कर दे तो क्या होगा? क्या आपका पड़ोस/विद्यालय की स्थिति खराब/अच्छी, अथवा वैसी ही रहेगी, उस पर

कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा? अगर राज्य अपने कुछ क्रियाकलापों को रोक दे तो अमीर वर्ग, मध्यम वर्ग तथा गरीब व्यक्ति के विचार वैसे ही रहेंगे अथवा उन पर किसी प्रकार का प्रभाव पड़ेगा?

आपके पड़ोस में राज्य द्वारा दी गई सुविधाओं एवं सेवाओं की एक सूची बनाइए। सरकार द्वारा ये सुविधाएँ रोक दी जाएँ अथवा चलाई जाएँ–इस विषय पर विभिन्न वर्गों के विचार किस प्रकार से अलग हो सकते हैं उसे देखिए। (उदाहरणतः सड़क, पानी, बिजली, सड़क की बत्तियाँ, विद्यालय, सफाई, पुलिस सेवाएँ, अस्पताल, बस, ट्रेन वायु परिवहन....। कुछ अन्य चीज़ों को सोचिए जो आपके संदर्भ में अनिवार्य हों)

स्वतंत्र भारत के बेहतरीन भारतीय समाजशास्त्री, एम.एन. श्रीनिवास ने डॉक्ट्रेट की उपाधि दो बार प्राप्त की–एक बंबई विश्वविद्यालय से तथा दूसरी ऑक्सफोर्ड से। श्रीनिवास मुंबई में घूर्ये के शिष्य थे। ऑक्सफोर्ड के सामाजिक मानवविज्ञान विभाग में अध्ययन के दौरान इनके बौद्धिक अभिविन्यास में बदलाव आया। उस समय ब्रिटिश सामाजिक मानवविज्ञान, पाश्चात्य मानवविज्ञान में एक प्रभावी शक्ति के रूप में उभर कर सामने आया था और श्रीनिवास, स्वयं विषय के महत्त्वपूर्ण 'केंद्र' में रहकर उसके अध्ययन से प्रसन्न थे। श्रीनिवास के डॉक्ट्रेट के शोध निबंध का प्रकाशन *रिलीजन एंड सोसायटी एमंग द कुर्गस ऑफ़ साऊथ इंडिया* के नाम से हुआ। इस पुस्तक में श्रीनिवास ने ब्रिटिश सामाजिक मानवविज्ञान में प्रभावी संरचनात्मक–प्रकार्यवादी परिप्रेक्ष्य पर कार्य किया। इस पुस्तक ने पूरे विश्व में श्रीनिवास का सम्मान बढ़ाया। ऑक्सफोर्ड में नवस्थापित भारतीय समाजशास्त्र विभाग में प्रवक्ता के रूप में श्रीनिवास की नियुक्ति की गई, परंतु 1951 में इस्तीफा देकर वे भारत लौट आए जहाँ महाराजा सायाजीराव विश्वविद्यालय, बड़ौदा में नवस्थापित समाजशास्त्र विभाग के अध्यक्ष के रूप में अपना कार्यभार सँभाला। 1959 में वे दिल्ली आए जहाँ *दिल्ली स्कूल ऑफ इकॉनोमिक्स* में समाजशास्त्र विभाग की स्थापना की जो शीघ्र ही पूरे भारत में समाजशास्त्र का महत्त्वपूर्ण केंद्र बन गया।

श्रीनिवास अकसर यह शिकायत करते थे कि उनका अधिकांश समय संस्थाओं को बनाने में ही बीत जाता है और स्वयं उनके पास शोधकार्य के लिए बहुत ही कम समय रह जाता है। इन कठिनाइयों के रहते हुए भी, श्रीनिवास ने कुछ विषयों पर महत्त्वपूर्ण कार्य किए जैसे–जाति, आधुनिकीकरण तथा सामाजिक परिवर्तन की अन्य प्रक्रियाएँ, ग्रामीण समाज इत्यादि। श्रीनिवास ने अपनी अंतरराष्ट्रीय पहचान तथा सहयोगियों की मदद से भारतीय समाजशास्त्र को विश्व के मानचित्र पर स्थापित किया। उनकी ब्रिटिश सामाजिक मानवविज्ञान तथा अमेरिकन मानवविज्ञान, विशेष तौर पर शिकागो विश्वविद्यालय में ज़बरदस्त पहचान थी जो उस समय विश्व मानवविज्ञान में एक शक्तिशाली केंद्र के रूप में उभर रहा था। जी.एस. घूर्ये तथा लखनऊ के विद्वानों की तरह श्रीनिवास ने भी नयी पीढ़ी के समाज को तैयार किया जो आने वाले दशकों में अपने विषय के दिग्गजों के रूप में स्थापित होने वाले थे।

एम.एन. श्रीनिवास के गाँव संबंधी विचार

एम.एन. श्रीनिवास की रुचि भारतीय गाँव तथा ग्रामीण समाज में जीवनभर बनी रही। यद्यपि वे गाँवों में कई बार सर्वेक्षणों तथा साक्षात्कार के लिए जा चुके थे, लेकिन एक वर्ष तक मैसूर के निकट के एक गाँव में कार्य करने के पश्चात ही इन्हें ग्रामीण समाज के बारे में प्रत्यक्ष जानकारी प्राप्त हुई। गाँव में रहकर कार्य करने का अनुभव इनके व्यवसाय तथा बौद्धिक विकास के लिए महत्त्वपूर्ण साबित हुआ। 1950–60 के दौरान श्रीनिवास ने ग्रामीण समाज से संबंधित विस्तृत नृजातीय ब्यौरों के लेखे-जोखों को तैयार करने में सामूहिक परिश्रम को न केवल प्रोत्साहित किया बल्कि उसका समन्वय भी किया। श्रीनिवास ने

मैसूर नरसिंहाचार श्रीनिवास (1916-1999)

16 नवंबर 1916 को मैसूर के आयंगार ब्राह्मण परिवार में जन्म। इनके पिता ज़मींदार थे और मैसूर के ऊर्जा तथा बिजली विभाग में कार्यरत थे। प्रारंभिक शिक्षा मैसूर विश्वविद्यालय में, बाद में स्नातकोत्तर शिक्षा हेतु मुंबई गए जहाँ घूर्ये इनके गुरु थे।

1942 : स्नातकोत्तर शोध पुस्तक के रूप में प्रकाशित विषय–'मैरिज एंड फैमिली एमंग द कुर्गस'

1944 : पीएच.डी शेधकार्य (2 भाग में) बंबई विश्वविद्यालय से घूर्ये के निर्देशन में किया।

1945 : ऑक्सफोर्ड गए; पहले रैडक्लिफ ब्राउन तथा फिर इवान्स प्रीचर्ड द्वारा शिक्षा ग्रहण।

1947 : ऑक्सफोर्ड से सामाजिक मानवविज्ञान में डी.फिल कर वापस भारत आए।

1948 : ऑक्सफोर्ड में भारतीय समाजशास्त्र के प्रवक्ता के रूप में नियुक्ति; इसी समय (1948) रामपुरा में क्षेत्रकार्य किया।

1951 : ऑक्सफोर्ड से इस्तीफा दिया तथा महाराजा सायाजीराव विश्वविद्यालय, बड़ौदा में प्रोफ़ेसर के पद पर नियुक्ति तथा समाजशास्त्र विभाग की स्थापना की।

1959 : दिल्ली स्कूल ऑफ़ इकॉनोमिक्स में प्रोफ़ेसर के पद पर नियुक्ति; समाजशास्त्र विभाग की स्थापना की।

1971 : दिल्ली विश्वविद्यालय छोड़ा। बैंगलोर स्थित इंस्टीट्यूट ऑफ सोशल एंड इकॉनोमिक चेंज के सह-संस्थापक।
निधन–30 नवंबर 1999

एस.सी. दुबे तथा डी.एन. मजूमदार जैसे विद्वानों के साथ मिलकर भारतीय समाजशास्त्र में उस समय के ग्रामीण अध्ययन को प्रभावशाली बनाया।

गाँव पर श्रीनिवास द्वारा लिखे गए लेख मुख्यत: दो प्रकार के हैं। सर्वप्रथम, गाँवों में किए गए क्षेत्रीय कार्यों का नृजातीय ब्यौरा और इन ब्यौरों पर परिचर्चा। द्वितीय प्रकार के लेखन में भारतीय गाँव सामाजिक विश्लेषण की एक इकाई के रूप में कैसे कार्य करते हैं—इस पर ऐतिहासिक तथा अवधारणात्मक परिचर्चाएँ। द्वितीय प्रकार के लेखन में गाँव की एक अवधारणा के रूप में उनकी उपयोगिता के प्रश्न पर श्रीनिवास का विवाद हुआ। ग्रामीण अध्ययन के खिलाफ, कुछ सामाजिक मानवशास्त्रियों जैसे लुई ड्यूमों का मानना था कि जाति जैसी सामाजिक संस्थाएँ गाँव की तुलना में अधिक महत्त्वपूर्ण थीं क्योंकि गाँव केवल कुछ लोगों का समूह था जो एक विशेष स्थान पर रहते थे। गाँव बने रह सकते हैं या समाप्त हो सकते हैं और लोग एक गाँव को छोड़ दूसरे गाँव को जा सकते हैं, लेकिन उनकी सामाजिक संस्थाएँ, जैसे जाति अथवा धर्म, सदैव उनके साथ रहते हैं और जहाँ वे जाते हैं वहाँ सक्रिय हो जाते हैं। इस कारण से ड्यूमों का मानना था कि गाँव को एक श्रेणी के रूप में महत्त्व देना गुमराह करने वाला हो सकता है। इसके विरुद्ध, श्रीनिवास का यह मानना था कि गाँव एक आवश्यक सामाजिक पहचान है। ऐतिहासिक साक्ष्य यह दिखाते हैं कि गाँवों ने अपनी एक एकीकृत पहचान बनाई है और ग्रामीण एकता ग्रामीण सामाजिक जीवन में काफ़ी महत्त्वपूर्ण है। श्रीनिवास ने ब्रिटिश प्रशासक मानव वैज्ञानिकों की आलोचना की जिन्होंने भारतीय गाँव का स्थिर, आत्मनिर्भर, छोटे गणतंत्र के रूप में चित्रण किया था। ऐतिहासिक तथा सामाजिक साक्ष्य द्वारा, श्रीनिवास ने यह दिखाया कि वास्तव में गाँवों में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आए हैं। यहाँ तक कि गाँव कभी भी आत्मनिर्भर नहीं थे और विभिन्न प्रकार के आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक संबंधों से क्षेत्रीय स्तर पर जुड़े हुए थे।

गाँव ग्रामीण शोधकार्यों के स्थल के रूप में भारतीय समाजशास्त्र को कई तरह से लाभान्वित करते हैं। इसने नृजातीय शोधकार्य की पद्धति के महत्त्व से परिचित कराने का एक मौका दिया। नव-स्वतंत्र राष्ट्र जब विकास की योजनाएँ बना रहा था, ऐसे समय में इसने भारतीय गाँवों में तीव्र गति से होने वाले सामाजिक परिवर्तन के बारे में आँखों देखी जानकारी दी। ग्रामीण भारत से संबंधित इन विविध जानकारियों की उस समय काफ़ी प्रशंसा हुई क्योंकि नगरीय भारतीय तथा नीति निर्माता इससे अनुमान लगा सकते थे कि भारत के आंतरिक हिस्सों में क्या हो रहा था। इस प्रकार ग्रामीण अध्ययन ने समाजशास्त्र जैसे विषय को स्वतंत्र राज्य के परिप्रेक्ष्य में एक नयी भूमिका दी। मात्र आदिम मानव के अध्ययन तक सीमित न रहकर, इसे आधुनिकता की ओर बढ़ते समाज के लिए भी उपयोगी बनाया जा सकता है।

क्रियाकलाप 4

मान लीजिए कि आपका कोई मित्र दूसरे ग्रह अथवा सभ्यता का है और पहली बार पृथ्वी पर आया है और उसने कभी गाँव के बारे में

नहीं सुना है। आप उन्हें ऐसे कौन से पाँच सुराग देंगे ताकि वे कभी गाँव को देखें तो उसे पहचान सकें।

इसे छोटे–छोटे समूहों में आयोजित कीजिए और विभिन्न समूहों द्वारा दिए गए सुरागों की तुलना कीजिए तथा देखिए कि वे कौन सी चीज़ें हैं जो बार–बार उभर कर सामने आती हैं। क्या इसके आधार पर आप गाँव की परिभाषा दे सकते हैं? (आपकी परिभाषा एक अच्छी परिभाषा है या नहीं इसे देखने के लिए अपने आप से एक सवाल कीजिए–क्या ऐसा कोई गाँव है जहाँ आपके द्वारा दी गई परिभाषा की सभी या ज़्यादातर चीज़ें अनुपस्थित हैं?)

क्रियाकलाप 5

1950 में नगरीय भारतीयों में ग्रामीण अध्ययन के प्रति काफ़ी रुचि थी जिसे समाजशास्त्रियों ने उस समय शुरू किया था। क्या आपको लगता है कि नगर के लोग आज भी गाँव में रुचि रखते हैं? टी.वी., फ़िल्म अथवा अखबारों में गाँव पर कितनी बार चर्चा की जाती है? अगर आप नगर में रहते हैं तो क्या आपका परिवार आज भी अपने गाँव के रिश्तेदार के संपर्क में है? इस प्रकार के संपर्क आपके पिता अथवा दादा की पीढ़ी में थे? क्या आप किसी ऐसे व्यक्ति को जानते हैं जो नगर छोड़ गाँव में जाकर बस गया हो? क्या आप ऐसे किसी व्यक्ति को जानते हैं जो वापस जाना चाहता हो? अगर हाँ, तो वे कौन से कारण हैं जिनके लिए ये नगर छोड़ गाँव में जाकर बसना चाहते हैं? अगर आप ऐसे किसी व्यक्ति को नहीं जानते हैं तो अपको ऐसा क्यों लगता है कि लोग गाँव में नहीं रहना चाहते हैं? अगर आप किसी व्यक्ति को जानते हैं, जो गाँव का रहने वाला है, पर नगर में रहना चाहता है, तो वे गाँव छोड़ने के क्या कारण देते हैं?

उपसंहार

इन चार समाजशास्त्रियों ने, इस विषय (समाजशास्त्र) को नव–स्वतंत्र आधुनिक राष्ट्र के संदर्भ में एक अलग पहचान देने की कोशिश की। किन विभिन्न तरीकों से समाजशास्त्र को 'भारतीय' बनाया गया इसके उदाहरण यहाँ दिए गए हैं। अत: घूर्ये ने उन प्रश्नों से शुरुआत की जो पाश्चात्य मानवशास्त्रियों द्वारा उठाए गए थे लेकिन यहाँ उन्होंने शास्त्रीय पुस्तकों से अर्जित अपने ज्ञान तथा एक शिक्षित भारतीय सोच का उपयोग किया। एक भिन्न पृष्ठभूमि से आने वाले, पूर्णरूपेण पाश्चात्य डी.पी. मुकर्जी जैसे आधुनिक बुद्धिजीवी ने भारतीय परंपरा की महत्ता को पुन: खोजा, बिना इसकी कमियों को नज़रअंदाज़ करते हुए। मुकर्जी की ही तरह ए.आर. देसाई भी मार्क्सवाद से अत्यधिक प्रभावित थे और भारतीय राष्ट्र की समालोचना ऐसे समय में की, जब इस प्रकार की आलोचनाएँ दुर्लभ थीं। पाश्चात्य सामाजिक मानवशास्त्र के प्रभावी केंद्रों में रह कर प्रशिक्षण प्राप्त एम.एन. श्रीनिवास ने भारतीय संदर्भ में इसका प्रयोग किया और बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में समाजशास्त्र की नवीन कार्यसूची को तैयार करने में मदद की।

यह किसी भी विभाग की शक्ति के लिए शुभ लक्षण हैं जब उसकी एक पीढ़ी अपने पूर्वजों से ज्ञान पाकर उनसे भी आगे निकल जाती है। भारतीय समाजशास्त्र मे ऐसा होता रहा है। आने वाली पीढ़ियों ने इन अग्रदूतों के कार्यो की सकारात्मक आलोचना भी की ताकि यह विषय और अधिक विकसित हो सके। सीखने की इस प्रक्रिया के चिह्न तथा समालोचक केवल इस पुस्तक में ही नहीं बल्कि संपूर्ण भारतीय समाजशास्त्र में देखे जा सकते हैं।

शब्दावली

प्रशासक-नृशास्त्री—यह पद उन ब्रिटिश प्रशासकों के लिए प्रयुक्त होता है जो 19वीं तथा प्रारंभिक ब्रिटिश भारतीय सरकार के भाग थे तथा जिन्होंने नृजातीय अनुसंधानों को प्रारंभ करने में अत्यधिक रुचि ली विशेषकर सर्वे तथा जनगणना। इनमें से कुछ सेवानिवृत्ति के पश्चात नामी नृशास्त्री बने। प्रमुख नामों में एडगर थर्सटन, विलियम क्रूक, हरबर्ट रिज़ले तथा जे.एच. हट्टन हैं।

मानवमिति / नृमिति—नृशास्त्र का एक विभाग जो मनुष्य की प्रजाति का अध्ययन उसके शरीर के माप, विशेषकर उसकी खोपड़ी के भार, सिर की चौड़ाई तथा नाक की लंबाई के आधार पर करता है।

समायोजन—वह प्रक्रिया जिसमें एक संस्कृति (विशेषत: बड़ी अथवा अधिक प्रभावी) दूसरी संस्कृति को अपने अंदर समा लेती है तथा पहली संस्कृति में मिल जाती है, ताकि यह प्रक्रिया के अंत में जीवित या अलग से दिखाई न दे।

अंतर्विवाह—सामाजिक संस्था जहाँ वैवाहिक रिश्ते केवल अपनी बिरादरी में ही किए जाते हैं; इस सीमांकित वर्ग के बाहर विवाह निषेध होते हैं। इसका आम उदाहरण जाति विवाह है, जहाँ विवाह अपनी ही जाति के व्यक्ति से होता है।

बहिर्विवाह—सामाजिक संस्था जहाँ कुछ वर्गों में वैवाहिक संबंध निषिद्ध होते हैं। विवाह इन निषिद्ध वर्गों के बाहर होना चाहिए। आम उदाहरण हैं—खून के रिश्तेदारों में विवाह निषेध (सपिंड बाहिर्विवाह), एक गोत्र में विवाह निषेध (सगोत्र बाहिर्विवाह) अथवा एक ही गाँव अथवा क्षेत्र में विवाह निषेध (गाँव/क्षेत्र बहिर्विवाह) है।

मुक्त व्यापार: फ्रांसीसी मुहावरा (शाब्दिक अर्थ 'जैसा है' अथवा 'अकेला छोड़ो') जो राजनीतिक तथा आर्थिक सिद्धांत के लिए प्रयुक्त होता है जहाँ अर्थव्यवस्था अथवा आर्थिक संबंधों में राज्य कम से कम हस्तक्षेप करता है; मुक्त बाज़ार की दक्षता तथा नियामक शक्तियों की मान्यता से जुड़ा है।

अभ्यास

1. अनन्तकृष्ण अय्यर तथा शरतचंद्र रॉय ने सामाजिक मानवविज्ञान के अध्ययन का अभ्यास कैसे किया?
2. 'जनजातीय समुदायों को कैसे जोड़ा जाए'–इस विवाद के दोनों पक्षों के क्या तर्क थे?
3. भारत में प्रजाति तथा जाति के संबंधों पर हरबर्ट रिज़ले तथा जी.एस. घूर्ये की स्थिति की रूपरेखा दें।
4. जाति की सामाजिक मानवशास्त्रीय परिभाषा को सारांश में बताएं।
5. 'जीवंत परंपरा' से डी.पी. मुकर्जी का क्या तात्पर्य है? भारतीय समाजशास्त्रियों ने अपनी परंपरा से जुड़े रहने पर बल क्यों दिया?
6. भारतीय संस्कृति तथा समाज की क्या विशिष्टताएँ हैं तथा ये बदलाव के ढाँचे को कैसे प्रभावित करते हैं?
7. कल्याणकारी राज्य क्या है? ए.आर. देसाई कुछ देशों द्वारा किए गए दावों की आलोचना क्यों करते हैं?
8. समाजशास्त्रीय शोध के लिए 'गाँव' को एक विषय के रूप में लेने पर एम.एन. श्रीनिवास तथा लुई ड्यूमों ने इसके पक्ष तथा विपक्ष में क्या तर्क दिए हैं?
9. भारतीय समाजशास्त्र के इतिहास में ग्रामीण अध्ययन का क्या महत्त्व है? ग्रामीण अध्ययन को आगे बढ़ाने में एम.एन. श्रीनिवास की क्या भूमिका रही?

संदर्भ

देसाई, ए.आर. 1975. *स्टेट एंड सोसायटी इन इंडिया : ऐसेज़ इन डिसेंट,* पॉपुलर प्रकाशन, मुंबई।

देशपांडे, सतीश. 2007. 'फैशनिंग ए पोस्ट कोलोनियल डिसिपलिन : एम.एन. श्रीनिवास एंड इंडियन सोशयोलॉजी' इन ओबेरॉय, सुंदर एंड देशपांडे (संपा.) मुद्रणाधीन।

घूर्ये, जी.एस. 1969. *कॉस्ट एंड रेस इन इंडिया.* पाँचवाँ संस्करण, पॉपुलर प्रकाशन, मुंबई।

प्रमानिक, एस.के. 1994. *सोशयोलॉजी ऑफ जी.एस. घूर्ये,* रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर तथा नयी दिल्ली।

मुकर्जी, डी.पी. 1946. *व्यूज़ एंड काउंटरव्यूज़,* द यूनिवर्सल पब्लिशर्स, लखनऊ।

मुकर्जी, डी.पी. 1955. *इंडियन ट्रेडिशन एंड सोशल चेंज,* प्रेसिडेंशियल एड्रेस टू द ऑल इंडिया सोशयोलॉजिकल कॉन्फ्रेंस एट देहरादून, रिप्रोड्यूज़्ड इन टी.के. ओम्मेन एंड पार्थो एन. मुखर्जी (संपा.) 1986. *इंडियन सोशयोलॉजी : रिफ्लेक्शन्स एंड इंट्रोस्पेक्शन्स,* पॉपुलर प्रकाशन, मुंबई।

मदन, टी.एन. 1994. *पाथवेज़ : एप्रोचेज़ टू द स्टडी ऑफ़ सोसायटी इन इंडिया,* ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली।

पटेल, सुजाता. *टूवर्ड्स ए प्राक्सियोलॉजिकल अंडरस्टैंडिंग ऑफ़ इंडियन सोसायटी* : द सोशयोलॉजी ऑफ़ ए.आर. देसाई. इन ओबेरॉय, सुंदर तथा देशपांडे (संपा.) (मुद्रणाधीन)।

श्रीनिवास, एम.एन. 1955. *इंडियाज़ विलेजेस.* डेवेलपमेंट डिपार्टमेंट, गवर्नमेंट ऑफ़ वेस्ट बंगाल, वेस्ट बंगाल गवर्नमेंट प्रेस, कोलकत्ता।

श्रीनिवास, एम.एन. 1987. 'द इंडियन विलेज : मिथ एंड रियेल्टी' इन द *डॉमिनेंट कास्ट एंड अदर ऐसेज़.* ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली।

ओबेरॉय, पेट्रीशिया, नंदिनी सुंदर तथा सतीश देशपांडे *(संपा.)* 2007. *डिसिपलिनरी बायोग्राफ़ीज़ : एसेज़ इन द हिस्ट्री ऑफ़ इंडियन सोशयोलॉजी एंड सोशल एंथ्रोपोलॉजी,* परमानेंट ब्लैक, नयी दिल्ली।

उपाध्याय, कैरल. 'द आइडिया ऑफ़ इंडियन सोसायटी : जी.एस. घूर्ये एंड द मेकिंग ऑफ़ इंडियन सोशयोलॉजी' इन ओबेरॉय, सुदंर तथा देशपांडे *(संपा.)* 2007।

© NCERT not to be republished

टिप्पणी

© NCERT not to be republished

भारत का संविधान

भाग 4क

नागरिकों के मूल कर्तव्य

अनुच्छेद 51 क

मूल कर्तव्य – भारत के प्रत्येक नागरिक का यह कर्तव्य होगा कि वह –

(क) संविधान का पालन करे और उसके आदर्शों, संस्थाओं, राष्ट्रध्वज और राष्ट्रगान का आदर करे;

(ख) स्वतंत्रता के लिए हमारे राष्ट्रीय आंदोलन को प्रेरित करने वाले उच्च आदर्शों को हृदय में संजोए रखे और उनका पालन करे;

(ग) भारत की संप्रभुता, एकता और अखंडता की रक्षा करे और उसे अक्षुण्ण बनाए रखे;

(घ) देश की रक्षा करे और आह्वान किए जाने पर राष्ट्र की सेवा करे;

(ङ) भारत के सभी लोगों में समरसता और समान भ्रातृत्व की भावना का निर्माण करे जो धर्म, भाषा और प्रदेश या वर्ग पर आधारित सभी भेदभावों से परे हो, ऐसी प्रथाओं का त्याग करे जो महिलाओं के सम्मान के विरुद्ध हों;

(च) हमारी सामासिक संस्कृति की गौरवशाली परंपरा का महत्त्व समझे और उसका परिरक्षण करे;

(छ) प्राकृतिक पर्यावरण की, जिसके अंतर्गत वन, झील, नदी और वन्य जीव हैं, रक्षा करे और उसका संवर्धन करे तथा प्राणिमात्र के प्रति दयाभाव रखे;

(ज) वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मानववाद और ज्ञानार्जन तथा सुधार की भावना का विकास करे;

(झ) सार्वजनिक संपत्ति को सुरक्षित रखे और हिंसा से दूर रहे;

(ञ) व्यक्तिगत और सामूहिक गतिविधियों के सभी क्षेत्रों में उत्कर्ष की ओर बढ़ने का सतत् प्रयास करे, जिससे राष्ट्र निरंतर बढ़ते हुए प्रयत्न और उपलब्धि की नई ऊँचाइयों को छू सके; और

(ट) यदि माता-पिता या संरक्षक है, छह वर्ष से चौदह वर्ष तक की आयु वाले अपने, यथास्थिति, बालक या प्रतिपाल्य को शिक्षा के अवसर प्रदान करे।

© NCERT not to be republished